"तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी के प्रमुख संस्कृत महाकाव्यों में चित्रित भारतीय समाज और संस्कृति-एक अध्ययन"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोधकर्त्री

(श्रीमती) शशिबाला

दिग्दर्शिका

डॉ० ज्ञानदेवी श्रीवास्तव

प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष (अ०प्रा०),

संस्कृत-विभाग,

इलाहाबाद-विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

2002

अनुक्रमणिका

आमुख

एक सभ्य समाज की सभ्यता और सास्कृतिक प्रणाली के अध्ययन के निमित्त उसके आर्थिक सगठन, और राजनीतिक तत्र, सामाजिक और धार्मिक आचरण, भाषा और शिक्षा तथा कलात्मक उपलब्धियो का समाकलन अपेक्षित है। तेरहवी से पन्द्रहवीं शताब्दी मे भारत के बाहर से आये मुसलमान आक्रमणकारियों ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। संस्कृत साहित्य विशेषत संस्कृत महाकाव्यो मे उपलब्ध सामग्री को आधार बनाकर तत्कालीन समाज और संस्कृति के विविध आयामो का विस्तृत ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास इस शोध प्रबन्ध में किया गया है।

शोध कार्य का आरम्भ 1996 मे हुआ। परमादरणीया गुरूवर्या डॉ0 ज्ञानदेवी श्रीवास्तव (विभागाध्यक्षा (अ0 प्रा0) सस्कृत–विभाग, इलाहाबाद–विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) ने संस्कृत साहित्य में तेरहवी से पन्द्रहवी शताब्दी के भारतीय समाज और संस्कृति के स्वरूप–विवरण के अनुसंधान का कार्य करने का आदेश दिया। गुरूवर्या के निर्देशन में मैने संस्कृत साहित्य मे इतिहास की गवेषणा प्रारम्भ की। यद्यपि अनेक व्यवधान आये किन्तु दृढ़ निश्चय और गुरूकृपा तथा अपने आत्मीयजन की प्रेरणा व सहयोग से यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ।

इस कार्य के दौरान उनके वैदुष्यपूर्ण निर्देशन के साथ ही मुझे गुरूवर्या का मातृवत् स्नेह भी प्राप्त हुआ जिसके लिए मै हदय से उनकी कृतज्ञ हूँ। प्रो एस.एन. लाल (भू.पू. प्रोफेसर अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद–विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के महत्त्वपूर्ण सुझावों व प्रेरेणार्थ मैं विनम्र आभार प्रकट करती हूँ।

इलाहाबाद) के महत्त्वपूर्ण सुझावो व प्रेरणार्थ मै विनम्र आभार प्रकट करती हूँ। इसके साथ ही मै अपने पति डा कौशल किशोर श्रीवास्तव (रीडर, सस्कृत–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) की हृदय से आभारी हूं जिन्होने हर तरह की बाधाओ को दूर करते हुए प्रत्येक पग पर मुझे सहयोग देकर मेरा मनोबल बढाया और इस शोध कार्य को पूर्ण करने मे मेरा साथ दिया। प्रूफ देखने के कार्य को सम्पन्न करने मे सहयोग देकर मेरे बच्चों प्रश्रिता कौशल और शाश्वत–कौशल ने इस कार्य को आगे बढाने में मेरी मदद की इन बच्चों का इस कार्य में अमूल्य योगदान है एतदर्थ वे दोनो मेरे स्नेह व आशीर्वाद के पात्र है। अपने माता–पिता के आशीर्वाद के बिना तो इस कार्य को पूर्ण करने मे अपने आप को असमर्थ पाती हू। अतः मै इनकी भी आभारी हूं।

इस शोध प्रबन्ध को कम्प्यूटर द्वारा मुद्रित करने हेतु श्री पंकज श्रीवास्तव धन्यवाद के पात्र हैं। इस शोध– प्रबन्ध को पूर्ण करने मे प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सहयोग देने वाले सभी महानुभावो को मैं धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। यह शोध–प्रबन्ध सुधीजनों के समक्ष मेरे प्रथम गम्भीर कृति के रूप मे परीक्षाणार्थ प्रस्तुत है।

विनयावनता

21.12.2002
दिनांक

शशि बाला
(शशि बाला)

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

विषय-परिचय

आठवीं शताब्दी में भारत वर्ष में ऐसा सामाजिक परिवर्तन शुरू हुआ जिससे राजनीति, आर्थिक व्यवस्था और समाज के अलग अलग वर्गों के आपसी रिश्ते बदलने लगे। देश अनेक रजवाडों में विभक्त हो गया। इनके शासकों के आपसी झगड़े का प्रभाव आर्थिक जीवन का समाज पर बराबर पडता रहा, लेकिन साथ ही साथ साहित्य और कला ने काफी उन्नति की। इस जमाने मे गजनी के और गोर के सुल्तानो ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किये।

13 वीं शताब्दी के शुरू होते ही दिल्ली में तुर्कों की सल्तनत स्थापित हो गयी। इस सल्तनत की स्थापना से समाज पर तरह—तरह के असर पडे और नयी—नयी धाराएं आयीं, चाहे वे विचार के क्षेत्र में हो, चाहे शासन मे चाहे धार्मिक या साहित्यिक दृष्टिकोण मे। इन नयी धाराओं और शैलियों के भी असर दिखायी पडने लगे। धीरे—धीरे दिल्ली सल्तनत पूरे उत्तर भारत पर छा गयी और 14 वीं शताब्दी में दक्षिण भारत के उत्तरी भाग पर भी कब्जा हो गया। दक्षिण भारत में दिल्ली का राज्य बहुत थोडे दिन तक था और वहां बहमनी सल्तनत की स्थापना हो गयी। इसी समय विजय नगर का साम्राज्य तेजी से बढ़ा। और बढ़ने के साथ ही इसने भी समाज के हर पहलू पर गहरा असर डाला। 15 वीं शताब्दी में दिल्ली सल्तनत के कई टुकड़े हो

गये। और उत्तरी भारत के अलग अलग हिस्सो मे प्रदेशिक सल्तनतें बन गयी। इन प्रादेशिक सल्तनतो में माषा और साहित्य तथा कला की विशेष उन्नति हुई। इस (मध्य) काल मे राजनीतिक और आर्थिक हाल के साथ ही सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक विचारधाराए नये रूप मे प्रसरित होने लगी।

मध्य युग केवल भारत ही नही वरन् समस्त विश्व के इतिहास मे किन्ही विशेष परिस्थितियो का द्योतक होता है। ये परिस्थितियां विभिन्न कालो अथवा युगो में विश्व के सारे देश मे व्याप्त रही हैं। प्रत्येक युग विशेष सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो का बोधक होता है। लगभग हर देश के इतिहास में किसी न किसी समय कुछ विशेष परिस्थितियो के परिणाम स्वरूप मध्य युग का अस्तित्व रहा है।

प्रत्येक देश के मध्ययुग के इतिहास की अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियां होती हैं। भारतीय इतिहास के मध्य युग से पूर्व तक कुछ खास विशेषताएं विद्यमान थीं। पूर्व मध्य कालीन भारतीय सामाजिक ढांचे के धर्म एवं कला सम्बन्धी परिवर्तनो को सामन्तवादी सामाजिक रचना के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। भारतीय सामन्तवाद के वास्तविक स्वरूप व्यापार में पतन, सिक्को के अभाव मे बद अर्थव्यवस्था के उदय के लिए मूलतः उत्तरदायी थे। यह अन्तर्विरोध एक और ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यो के मध्य और दूसरी ओर ब्राह्मणो व शूद्रों (किसानों,शिल्पकारों और मजदूरों) के बीच [illegible] था।

तुर्कों के आगमन के बाद मध्यकाल में होने वाले परिवर्तनों पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि देश के कुछ मामलों में परिवर्तन प्रगट हुए,

फिर भी तुर्की शासको के काल मे भी पुराना सामन्तवादी समाज बना रहा। भूदानो की सख्या बढती गयी, जातियों का प्रगुणन होता रहा और कला, भाषा एव साहित्य मे भी क्षेत्रीयतावादी प्रवृत्तिया शक्तिशाली होती गयी।

मध्यकालीन भारत मे किसानो द्वारा उत्पादित कृषि अधिशेष का अधिकांश भाग सुल्तानो व अमीरो के पास चला जाता था जबकि कृषि प्रकियाओ तथा ग्रामीण जीवन पर जमीदारों का नियंत्रण था। अतः इस समस्या को मध्य कालीन भारत में सम्पत्ति सम्बन्धो के स्वरूप, जागीदारी व्यवस्था और ग्राम समुदाय की कार्यप्रणाली पर प्रकाश पडता है। कृषि सम्बन्धी नवीन स्वरूप के कारण शहरीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई जिसके परिणाम स्वरूप बडे–बडे नगरो कस्बों की स्थापना और विकास हुआ।

इस शहरीकरण कला की प्रक्रिया को गतिमान बनाने के लिए एक विशाल केन्द्रीभूत साम्राज्य ने प्रेरणा दी। 'इक्तादारी' व्यवस्था के रूप में लगान सम्बन्धी व्यवस्था ने इस केन्द्रीभूत साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया। विशाल स्थायी सेनाओ के गठन के परिणामस्वरूप दस्तकारों की वस्तुओ की माग काफी बढ गयी। जिसने आन्तरिक व बाह्रय व्यापार को बढाने मे काफी मदद दिया। इस शहरीकरण ने मुद्रा अर्थव्यवस्था और माल उत्पादन अर्थात बाजार मे विक्रय के लिए माल के उत्पादन को बढावा दिया।

मध्यकालीन भारतीय समाज जब तक वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के साथ चलता रहा,वह प्रत्यक्ष रूप से उपलब्धिया हासिल करता रहा। भारत एक कृषि प्रधान देश है अतः इनका तकनीकी प्रयोग भी कृषि सम्बन्धी उपयोगिताओं तक ही सीमित रहा। मध्यकालीन ग्राम क्षेत्र के मुकाबले में

नगरो का विकास अधिक हुआ परन्तु फिर भी ग्राम्य क्षेत्र तुर्की शासन के प्रभाव से अछूते नही रहे। प्राचीन काल का जातिगत ढाचा, वर्णाश्रम व्यवस्था और उससे जुडे हुए तत्व इस काल में भी कियाशील रहे और मध्य काल में उसमें कोई खास परिवर्तन नही हुआ। परन्तु जिन समकालीन परस्थितियो में ग्रामीण ढाचा समग्र रूप में विद्यमान था उसमें कुछ नाजुक किस्म के परिवर्तन आए। शासकवर्ग के स्वरूप और तत्सम्बन्धी प्रभावों ने समाज की स्थिति को प्रभावित किया। ये परिवर्तन व तत्सम्बन्धित प्रभाव ही प्राचीन काल को मध्ययुग से पृथक करते है।

भारत में नवस्थापित तुर्की शासन ने राजनीतिक सत्ता में विभिन्न प्रशासनिक जिम्मेदारियों में हिन्दू राजाओं का अपना भागीदार बनाया। परन्तु जैसे तुर्की शासनका विस्तार हुआ, सल्तनतके सुदृढीकरण की प्रक्रिया 13 वीं शताब्दी के अन्त तक पूर्णतः गतिमान हो गयी और जैसे–जैसे भारत व सामाजिक गठन में परिवर्तन हुआ वैसे–वैसे तुर्की शासन के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आने लगे। मध्यकालीन समाज में पारस्परिक समझौते एवं समन्वय की भावना का विकास हुआ। अब शासकीय पद उन लोगो के लिए खुले थे, जिनमें समुचित योग्यता व गुण विद्यमान थे। योग्यता का आधार अब सम्प्रदाय या धर्म नहीं रह गया था। भारतीय एवं इस्लामी सभ्यताओं एवं संस्कृतियो के अन्तर्मिलन की प्रक्रिया ने भारतीयकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया। इस प्रकिया को भक्ति एवं सूफी आन्दोलन ने और अधिक सशक्त बनाया।

प्रस्तुत शोध अध्ययन (मध्य) काल से सम्बन्धित सारे

पक्षो—राजनीतिक और राजतत्र, राज्य एव धर्म, आर्थिक तथा तकनीकी विकास, धर्म एव साहित्य आदि सभी विषयो का यथासम्भव सन्तुलित विवेचन किया गया है। इस शोध ग्रन्थ के ऐतिहासिक तथ्यो को जानने मे सहायक स्रोतो मे साहित्यिक साक्ष्यो का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुस्लिम आक्रान्ताओ के आक्रमण और मुस्लिम शासन की स्थापना से सस्कृत साहित्य के परिवर्तन पर बुरा असर पडा। फिर भी इस युग में जो सस्कृत साहित्य रचा गया,वह मध्य कालीन समाज के अर्थ, राजनीति, धर्म और सस्कृति को अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त है।

जोनराजकृत राजतरंगिणी, राज्यावलिपताका, वीरकम्परायचरितम्, सालुवाभ्युदय, मदुराविजयम्, सुकृतसंकीर्तनम, जगदूचरितम्, चन्द्रप्रभचरितम्, हम्मीरकाव्यम्, वसुपालचरितम्, नलाभ्युदय आदि महाकाव्य इस युग की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक इत्यादि स्थितियों को बखूबी बताते है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे अन्य ग्रन्थों की तुलना में जोनराजकृत राजतरंगिणी, जिसने सम्पूर्ण मध्य युग के इतिहासको अपने में समेट रखा है, को प्रमुख आधार बनाकर संग्रह करते हुए कतिपय सस्कृतेतर ग्रन्थों, हिन्दी और अंग्रेजी में लिखित इतिहास ग्रन्थो का भी उपयोग किया गया है। ऐतिहासिक तथ्यों की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता बनाये रखने के लिए तथा विषय के सम्यक् प्रतिपादन के लिए अपेक्षित पत्र—पत्रिकाओ की सामग्री भी उपयोग मे लायी गयी है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास

भारत पर इस्लामी प्रभाव के दृष्टिकोण से 11वीं सदी के आरम्भ में भारत पर तुर्क अफगानों की विजय बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसके द्वारा भारत में इस्लाम का राजनीतिक शक्ति के रूप में आगमन हुआ। मुसलमानो की अरब–ईरानी संस्कृति थी। मुसलमानो के भारत में आने से पूर्व भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था। मुसलमानों के आने से उसका विभक्तीकरण बढ गया। हिन्दू समाज चार श्रेणियों में विभक्त था। समाज का सबसे सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानो का था। वह भारत शासक वर्ग था। इस कारण वह सबसे प्रभावशाली और विशेष अधिकारों से युक्त था। शासन और समाज में उनका स्थान श्रेष्ठ था। परन्तु विदेशी मुसलमान भी विभिन्न वर्गों में विभाजित थे तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अरबी सीनियन आदि ऐसे ही वर्ग थे।

13वीं शताब्दी तक तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित रखी थी और अन्य विदेशी मुसलमानो को समानता का दावा नहीं करने दिया। परन्तु 14वी सदी के आरम्भ में इस स्थिति में परिवर्तन आया। खलजियों द्वारा शासन सत्ता प्राप्त करते हुए तुर्को की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी तथा परस्पर विवाह सम्बन्धों व बदली परिस्थितियों ने सभी मुसलमानो का स्तर एक सा कर दिया। समाज का दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानों का था। ये वे ही मुसलमान अथवा मुसलमानों के की वंशज थे, जो हिन्दू से मुसलमान बने थे या

परिवर्तित मुसलमानो की सन्ताने थी, विदेशी मुसलमानो ने इन्हे कभी अपने समान नही समझा। अधिकाश भारतीय मुसलमान निम्न हिन्दू जातियो मे से थे, जिन्होने जातिव्यवस्था की कठोरता से विद्रोह करते हुए ये कदम उठाया था। इस कारण भी विदेशी मुसलमानो के समाज व शासन मे इन्हे बराबर का स्थान नहीं दिया गया।

14 वी शताब्दी मे खलजी शासन के आरम्भ होने से इस स्थिति मे कुछ सुधार हुआ परन्तु भारतीय मुसलमानो की स्थिति पूर्ववत् रही। हिन्दू जाति व्यवस्था का प्रभाव भी मुसलमानों पर पडा, मुख्यतः धर्म –परिवर्तित मुसलमान अपनी हिन्दू जाति के प्रभाव से मुक्त न रह सके। इस कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान नस्ल और उत्पत्ति के आधार पर विभिन्न वर्गों में बंटे हुए थे। भारतीय समाज का बहुसख्यक वर्ग हिन्दुओं का था। हिन्दू समाज जाति व्यवस्था के कारण पहले से ही विभिन्न वर्गो मे बंटा हुआ था। मुसलमानों से अपने समाज की सुरक्षा के लिए हिन्दुओ ने जाति –बन्धन और कठोर कर लिए, जिसके कारण विभिन्न नवीन उपजातियों का आविर्भाव हुआ। कल्हण (11 वीं शताब्दी) कालीन भारतीय समाज उत्साहमय, आहलाद्मय था, सस्कृत उस समय की प्रमुख भाषा थी। परन्तु जोनराज (सल्तनत कालीन युग) के समय के पुरातन समाज टूट गया था। पुरानी मान्यताओ, आचारों–विचारों का लोप हो रहा था। नवीन मान्यताएं, नवीन विधियां स्थान ग्रहण कर रही थी। समाज का कलेवर न हिन्दू था और न पूरा मुसलमान, हिन्दू से मुस्लिम मे परिवर्तित हो रहा था। वह हिन्दू समाज का गिरता हुआ अन्तिम रूप और मुस्लिम समाज का उदयकालीन दृश्य उपस्थित करता था। यह संक्रमण काल

था। जनता मुस्लिम होने पर भी पुरातन परम्परा से बिल्कुल बाहर नही निकल सकी थी।

विवा।

स्मृतियो ने मनुष्य के जन्म से मृत्यु पर्यन्त के विकास क्रम को संस्कारो से बाध रखा है। उसके प्रत्येक विकास के चरण को विभिन्न संस्कारो मे विभाजित किया है। इन्ही मे से एक प्रमुख सस्कार है विवाह।

स्मृतियो के द्वारा प्रतिपादित 16 सस्कारो में विवाह, सस्कार अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।[1] पूर्व वैदिक व तदनन्तर काल मे स्त्री व पुरुष किसी बधन मे न रहकर अपनी यौन इच्छाओ की पूर्ति के लिए स्वच्छद व्यवहार करते थे। स्त्रियॉ एक व अनेक पुरुषो के साथ अपने संबध स्थापित करती थी। इसका विरोध श्वेतकेतु ने किया व नियम बनाया कि जो भी पुरुष या स्त्री अपने संयम से डगमगाएगा दण्ड का भागी होगा। परन्तु आधुनिक लेखको ने इसका विरोध किया है।.[2]

अल्बरुनी के अनुसार विवाह कामजन्य संवेग के शमन का सुसभ्य उपाय है।

"समाज की प्रमुख इकाई परिवार के अभ्युदय व विकास जिस सस्कार पर निर्भर है व संस्कार है विवाह।"

---

1 महाभारत आदि पर्व (31–37–38)

2 मैरिज पास्ट एण्ड प्रेजेंट (पृष्ठ–10)

तत्कालीन समाज मे प्रचलित विवाह परम्पराएं

12 वीं शताब्दी व इसके बाद कई स्मृतियों में पूर्व वर्णित विवाह व्यवस्था को दोहराया गया है उनके अनुसार उस समय सजातीय विवाह ही प्रचलित थे, समाज के प्रमुख अग चारो वर्ण के लोग अपनी जाति में ही विवाह करने को बाध्य थे। तत्कालीन समाज मे अन्तर्जातीय विवाह वर्जित थे। [1] परन्तु ब्राह्मण क्रमशः अन्य तीन वर्ण समुदाय अपने समाज में ही वैवाहिक सम्बध स्थापित कर सकते थे। उस समय सन्तानोत्पत्ति व अन्य धार्मिक कृत्यों हेतु अपनी जाति को ही वरीयता दी जाती थी और ये ही विवाह सर्वमान्य व सामाजिक थे। [2]

ये विवाह उस श्रेणी मे रखे जा सकते हैं जिन्हें सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त थी जैसे उच्च जातियो के व्यक्ति अपने यौन सुख की पूर्ति के लिए अपने से निम्न जाति के कन्या से भी विवाह करते थे। किन्तु इस प्रकार के विवाह को सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त थी और न ही इस प्रथा से ब्याही स्त्री को समाज में सम्मानीय स्थान प्राप्त था। वो केवल विवाहित पुरुष के साथ शरीर सुख तक ही सीमित रहती थी। इस प्रकार के विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता था प्राय. इस प्रकार के विवाह निषिद्ध थे।

स्मृतियों के अनुसार उस समय भी वैदिक काल के तुल्य समान गोत्र में ही विवाह होते थे [illegible] विवाह के लिए गोत्र व प्रवर का भी ध्यान रखा जाता था। मिताक्षरा में भी इस तरह के विवाह को मान्यता दी गई है। उस समय सपिण्ड विवाह वर्जित थे इस तरह के विवाह में पिता की तरफ से

---

1. पराशर माधव(I,93–98)
2. याज्ञवल्क्य(शूलपाणि)

सात पुश्त व मातृ पक्ष के पाचवी पुश्त तक एक दूसरे का सम्बन्ध न हो अर्थात् उनके पूर्वज अलग –अलग हों। [1] दायभाग के अनुसार सपिण्ड का अर्थ चावल के पिण्ड या उसके अवशिष्ट से है जो उभयनिष्ठ पूर्वज को दिया जाए। मदन परिजात ने पहले उदाहरण को इसलिए प्रस्तुत किया, जिससे वो पहले के पक्ष मे दूसरे का खंडन कर सके। पराशर माधव ने दोनो को मिलाकर एक कर दिया 'किसी भी व्यक्ति को सपिण्ड विवाह नहीं करना चाहिए चाहे वो मातृ पक्ष का हो या पितृपक्ष का' गृहस्थ रत्नाकर के अनुसार पहला पक्ष समान गोत्र व प्रवर ही माना है। याज्ञवल्क्य के टीकाकार ने इसको और संकुचित कर दिया और उन्होने पितृ पक्ष के पांच पुश्त व माता के तीन पुश्त तक के सबंधों तक ही इन्हे सीमित कर दिया। और औचित्य सिद्ध किया कि सात व पांच पुश्त वाले सिद्धांत को गोद लिए हुए सन्तान या सौतेली माता की सन्तान अन्य जाति की माता से या आसुर विवाह (जो कि प्रचलन मे नही था) से उत्पन्न सन्तान के लिए ही सम्भव था। गृहस्थ रत्नाकर ने इस तरह के सबंधो को निन्दनीय बताया है।

अंततः उपर्युक्त तथ्यो का अवलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उस समय सपिण्ड विवाह का प्रचलन नही था। कुछ उदाहरणों को छोड़ कर सामान्यतया समानगोत्र व प्रवर के विवाह को ही उचित व सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।

उस समय दक्षिण भारत मे विवाह की और कुप्रथा प्रचलित थी। जिसके अनुसार भाई–बहन की सन्तानों में विवाह सम्भव था। परन्तु उत्तर

---

1. मदनपारिजात (129–33) और

भारत मे इस तरह के विवाहो की घोर निन्दा की गई है। गृहस्थरत्नाकर ने इस तरह के विवाह की बहुत निन्दा की है और कहा है कि यदि इस तरह का विवाह किसी ने मामा की पुत्री से ने कर भी लिया हो तो उसे तुरन्त विवाह –विच्छेद कर लेना चाहिए और प्रायश्चित कर्म करना चाहिए तथा विच्छेद के पश्चात् पुन इस सबध को जीवित नहीं करना चाहिए।

परन्तु कुछ विद्वानों ने स्मृतियो और वेदो के वर्णन के अनुसार इसे उचित भी ठहराया है। इसका समर्थन अन्य विद्वानो ने भी अपने–अपने ग्रन्थ मे किया है। जिसे लम्बी बहस के दौरान स्मृतिचन्द्रिका व पराशर माघव ने बाद में स्वीकार किया है। वेदो व स्मृतियो में आसुर विवाह व इसके समान विवाहो को कुछ भागो में उचित ठहराया है।

परन्तु सामाजिक मान्यता के अनुसार इस तरह के विवाहो को कुछ भागो में छोडकर मान्यता नही प्राप्त थी। अतः इस तरह के विवाहो का वर्णन भी यदा–कदा ही कही प्राप्त होता है।

स्मृति के अनुसार विवाह के निषेधात्मक नियम पूर्ववत ही बताये गये है। सपिण्ड विवाह के लिए गुण व दोष नही बताये गये हैं। विधि द्वारा, अपितु इन नियमों का उल्लंघन बालिका को पत्नी बनने से नही रोकते हैं, परंतु ऐसा करने पर कुछ पश्चात्ताप भी करवाता है। अतः एक तरह से इस तरह के विवाहों से प्रायः लोग अपना बचाव करते थे।

कश्मीरियो मे विवाह स्वाजातियों तक सीमित नहीं था अन्तर्जातीय विवाह राजाओं ने किये हैं। उन्होंने कल्पपाल, डोम्ब, वैश्व एवं ब्राह्मण स्त्रियों से विवाह किए। उसे समाज में बुरी निगाह से नहीं देखा जाता था उनकी

सन्तान भी राजा हुई।

परजाति से विवाह करने पर कोई जातिच्युत नही होता था। ये सामाजिक बाते थी। समाज उन्हे इस बात की अनुमति देता था। आशय यह है कि उस समय (सल्तनत काल मे) कश्मीरी विवाह के मामले मे समाज उदारवादी दृष्टिकोण रखता था। इनका धर्म और राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था। [1]

उस समय के शासक शहमीर ने भी कश्मीर के कमजोर राजनीतिक व्यवस्था का फायदा उठाने के लिए विजातीय विवाह की प्रथा का प्रयोग अपने सम्राज्य मे किया। चूकि वो कश्मीर की शक्ति को बाहर से नही भेद सकता था अतः उसने मुस्लिम कन्याओ का विवाह कश्मीरी सैनिको व कुलीन वर्गों में करवाना प्रारम्भ किया और उनकी कन्याओं का विवाह मुसलमान कन्याओ के साथ करना प्रारम्भ किया।

कश्मीरी इस प्रपंच में व इस षडयंत्र में फंस गये। उन्होने यह नही सोचा कि मुस्लिमों को अपनी कन्या देना उन्हें विधर्मी बना देना था। उनकी सन्तानें हिन्दू नही मुसलमान होती थीं। हिन्दू घरों की मुस्लिम कन्याएं अपनी सन्तानो पर अपना सस्कार (इस्लाम) डालती थी। मुस्लिम कन्याये हिन्दुओं से विवाह होने पर भी अपना धर्म न त्याग सकीं। वे अपनी निष्ठा पूर्ववत इस्लाम धर्म में ही रखती थीं। [2] विवाह की इस कुप्रथा ने आगे चलकर

1.सोऽ[illegible] दत्वा लुस्तस्प तद्धीशितुः।
श्री शंकरपुरं जित्वा राज्ञःशंकामवर्धयत्।। (श्लोक–250)

2.लवन्योलोकस्तत्पुत्रीर्माला इव बभार ता·।
नाजानाद् भुजगीर्घोरविषा.प्राणहरीः पुन : ।। (श्लोक–259)

हिन्दू राजाओ व उनके साम्राज्य के पतन में मुख्य भूमिका निभायी।

मेधातिथि ने ब्राह्मण का क्षत्रिय व वैश्य से अनुलोम विवाह अपवाद के रूप मे स्वीकार किया है।[1] मेधातिथि के अनुसार अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान माता की जाति की व प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान पिता की जाति की होगी परन्तु अनुलोम विवाह को कलियुग में वर्जित माना गया है। इस युग की अनेक व्यवस्थाओं में समाजिक व्यवस्थाकारो द्वारा अन्तर्जातीय विवाह रोकने की प्रवृत्ति स्पष्ट है। स्मृतिचन्द्रिका तथा स्मृत्यर्थसार में असवर्णों से विवाह कलिवर्ज्य घोषित किया गया है किन्तु स्वजातीय से विवाह (जो धार्मिक अनुष्ठानो व कृत्यो तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक था) के बाद [illegible] से विवाह की अनुमति दी है। अपरार्क तथा विज्ञानेश्वर ने उच्च वर्ण की कन्या से अनुलोम विवाह को उचित और शूद्रों से विवाह (जो केवल यौन सुख तक ही सीमित था) को सम्भव माना है।[1] मेधातिथि तथा [illegible] दोनों ने ही मामा की पुत्री से विवाह को अधम कोटि में रखा है।[2] इस काल में स्वंयवर (विशेषकर राजवंशों में) के उदाहरण प्राप्त होते हैं। अग्नि पुराण व पराशर माधव के स्मृतियों के अनुसार स्त्रियो का पुनर्विवाह या विधवा विवाह, पतिके लापता होने पर, मृत्यु पर संन्यासी होने पर या जाति बहिष्कृत होने पर सभव था किन्तु मेधातिथि ने पुनर्विवाह या विधवा विवाह के विरुद्ध मत व्यक्त किया।[3] कुछ विशेष परिस्थितियों में नियोग शास्त्रीय व्यवस्था मे मान्य था।

1.मनु स्मृति (3–14),नारदीय पुराण

2.पराशर माधव (I, 123–27)

3(क).मनुस्मृति (18,6)[4]

(ख)याज्ञवल्क्य (3–254)

विवाह की अवस्था

विवाह की अवस्था को लेकर उस समय की स्मृतियो, रचनाकारो मे भिन्न –भिन्न विचार है परंतु तत्कालीन समाज मे पराशर माधव द्वारा वर्णित ग्रन्थ मे विवाह की अवस्था स्मृतियों में वर्णित प्रथा के अनुरुप है। उनके अनुसार लडके की अवस्था 30 वर्ष व कन्या की अवस्था क्रमशः 12 वर्ष, 24 व 8, 30 और 10 और 21 और 7 है। उनके अनुसार वर व वधू की अवस्था मे क्रमश. तिगुने का अन्तर होना चाहिए। [4]

प्राचीन काल में गृहस्थ आश्रम की योग्यता होने पर ही विवाह किया जाता था। 8 वी शताब्दी के अनुसार सुश्रुत के अनुसार विवाह के लिए वर 25 व वधू 16 वर्ष की होनी चाहिए। स्मृति काल में कन्या की आयु और कम हुई और स्मृति के अनुसार 30 वर्ष का पुरुष 12 वर्ष की सुन्दरी कन्या से विवाह करे। [1] विवाह की अवस्था बीत जाने पर कन्या पिता के घर पर मृत्युपर्यन्त रह सकती थी। कुछ स्थानो पर स्थिति बिल्कुल विपरीत थी वहां किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कुछ नवयुवक धन के लोभ मे अधेड उम्र की महिलाओ से भी विवाह कर लेते थे।

तत्कालीन समाज में माता–पिता अपनी पुत्री का विवाह यथाशीघ्र कर देना चाहते थे। अधिक आयु की कन्या को घर पर रखना निन्दनीय माना जाता था। मदन परिजात के अनुसार युवावस्था को प्राप्त कन्या के पिता के घर रहने के बजाय अयोग्य वर से ही वरण कर देना चाहिए। [2]

---

1 मनुस्मृति (18–,6)

2 याज्ञवल्क्य (3–254)

3 मनुस्मृति (8–255)

एक अन्य प्रथा के अनुसार स्मृतियो मे वर्णन है कि सर्वोत्तम कन्या दान नग्निका का माना जाता था, वो कन्या जो कि अपना वस्त्र भी ठीक से न पहन सके उस कन्या का विवाह उसके तीन गुने बड़े वय के पुरुष के साथ कर दिया जाता था और ग्रन्थकार इस विवाह को सर्वोत्तम मानते थे।

पुराणो मे विवाह की अवस्था के वर्णन मे कुछ मतभेद हैं उनके अनुसार महाभारत काल मे विवाह की अवस्था पर वर वधू की क्रमशः 8·24, 12:30, 16·32 या कन्या की उम्र 20 या अधिक बतायी गई है। [3]

कुछ परिस्थितियों मे कन्याओ द्वारा स्वयवर का भी प्रचलन था यह उस समय प्रमाणित था कि, विवाह योग्य कन्या का पिता उसका विवाह सही समय पर नही करता था। ऐसी स्थिति मे युवावस्था को प्राप्त कन्या, समाज द्वारा निर्धारित उम्र बीत जाने पर अपने पति का चुनाव स्वय करती थी।[3] गृहस्थ रत्नाकर के अनुसार उस कन्या को विवाह की अवधि व्यतीत हो जाने के पश्चात तीन वर्ष या योग्य वर प्राप्त होने की आशा हो तो तीन महीने और रुककर अपने योग्य वर का चयन कर सकती थी। किन्तु इसके विपरीत पराशरमाधव ने इस प्रथा का विरोध किया है और उन्होंने अपने ग्रन्थ में बताया है कि इस प्रकार की कन्या जिसकी विवाह की अवस्था व्यतीत हो चुकी है, उसका विवाह यदि अभिभावक किन्ही कारणो से न कर पा रहे हों तो उस कन्या को मृत्युपर्यन्त का समय अपने पिता के घर मे ही बिता देना चाहिए। किन्तु उस समय विवाह की यह प्रथा प्रचलित थी भी कि नही यह अज्ञात है।

---

1 मनुस्मृति (9–94)

2. मदनपारिजात (149–50)

3. महाभारत, आदिपर्व (31–50)

प्राय सभी माता पिता अपनी पुत्री का विवाह स्मृति या पुराणो के अनुसार निर्धारित आयु मेही कर दिया करते थे क्योकि वो कन्यादान को ही महादान मानते थे और धर्मभीरू होने के कारण प्राय सभी अपने कर्तव्य की पूर्ति करते थे [illegible] कन्या विवाह की यह निर्धारित आयु उसके खिलाफ अत्याचार ही दर्शाते है किन्तु उस समय व्यक्ति स्वय को समाज द्वारा निर्धारित नियमों से जकडा पाता था। क्योंकि इससे बाहर जाने पर उसे जातिच्युत होने का डर सताता था जो कि उस समय कठोर दण्ड समझा जाता था समाज से बहिष्कृत व्यक्ति सभी सुविधाओं से वंचित हो जाता था अतः सभी समाज के [illegible] द्वारा निर्धारित नियमों का पालन कठोरता से करते थे।

राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियो के कारण ऐसी विवशता थी विशेषकर हिन्दुओं में प्रत्येक पिता अपनी बेटी का विवाह यथाशीघ्र कर देना चाहते थे प्रचलित विवाह के अनुसार माता–पिता के घर में छह या आठ वर्ष से अधिक उम्र की लड़कियो का रहना वर्जित माना जाता था। वस्तुत ये बाल विवाह सगाई के रूप में होते थे। सहवास काफी समय बाद होता था जब वे तरुण हो जाते थे किन्तु तथ्य ये है कि यह दोष प्रचलित रहा मुगलबादशाहों से पहले इस पर रोक नहीं लगाई जा सकी अकबर ने इस कुप्रथा को समाप्त करने में पहल दिखायी। अकबर ने यह आदेश जारी किया कि लडके 16 वर्ष व लड़कियां 14 वर्ष की उम्र से पहले विवाह न करें।

विवाह – भेद

मनुस्मृति के अनुसार विवाह के आठ प्रकार होते है ब्राह्म, दैव,

आर्ष, प्राजापात्य, आसुर, गधर्व, राक्षस व पैशाच। इनमे प्रथम चार प्रकार समाज मे सम्मानित थे और अन्तिम चार निन्दित माने गए थे।

अनुलोम व प्रतिलोम विवाह

वर्ण व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए गौतम, मनु स्मृति धर्मशास्त्रकारो ने सवर्ण (एक ही वर्ण के स्त्री–पुरुष के) विवाह को श्रेष्ठ माना है। परंतु वैदिक काल में यह प्रतिबन्ध दृष्टिगत नहीं होता। समाज मे अन्तर्विभक्त किया गया– अनुलोम तथा प्रतिलोम। उच्च वर्ग के पुरुष और उससे निम्न वर्ण की कन्या का विवाह अनुलोम माना जाता था तथा इसके विपरीत उच्चवर्णीय कन्या का उससे अवर वर्ण वाले पुरुष से विवाह प्रतिलोम। अनुलोम विवाह के आधार पर ब्राह्मण तीन (क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र कन्याओं से) क्षत्रिय दो (वैश्य एव शूद्र स्त्रियो से) तथा वैश्य मात्र एक (शूद्र कन्या से) अतिरिक्त विवाह कर सकता था। [1] यह सिद्धात धर्मशास्त्रों में मिलता था इससे ज्ञात होता है कि अनुलोम विवाह कुछ सीमा तक मान्य था किन्तु प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को वर्णसंकर, निकृष्ट एवं अस्पृश्य कहा गया है; जिसमे ऐसे विवाह के प्रति समाज की अमान्यता परिलक्षित होती है।

विवाह –विच्छेद

प्रचीन स्मृतियों विवाहों के प्रकारों और उनके गुणदोषों की विस्तृत विवेवना इस काल के ग्रन्थों में किया गया है। उन्होंने सप्तपदी के विवाह सस्कार (सात फेरों) के पश्चात् ही कन्या किसी पुरुष की विवाहिता

---

1 गृहस्थरत्नाकर (42–43)

पत्नी होने का अधिकार प्राप्त करती है। प्राचीन स्मृतियों के अनुसार ही इस काल मे भी विवाह की परम्पराए मान्य थी। यदि विवाह तय होने के पश्चात् वर या कन्यापक्ष को किसी पक्ष के दोषो का पता चलता है तो उस दशा में विवाह को सप्तपदी से पूर्व ही तोडा जा सकता है। यदि कन्या पक्ष को वर की अयोग्यता नपुसकता के बारे में सप्तपदी से पूर्व ही ज्ञात हो जाए तो विवाह –विच्छेदन किया जा सकता है। इस तरह की स्थिति मे कन्यापक्ष वर को विवाह हेतु अयोग्य सिद्ध कर सकता है।

कभी–कभी विवाह तय होने के पश्चात् वर यदि विदेश चला गया तो पहले तो कन्या को कुछ निश्चित समय तक उसका इतजार करना चाहिए, परतु समय व्यतीत होने के पश्चात् कन्यापक्ष इस विवाह को मना कर सकते थे।

अन्य अवस्था में यदि पति की मृत्यु सप्तपदी के पूर्व हो जाती है या विवाह के बाद ही यदि ऐसा हो जाए तो उस स्त्री का विवाह के बाद यदि ऐसा हो तो उस स्त्री का विवाह समान गोत्र में क्रमशः उसके देवर या समान संबधी से हो सकता था। [1]

गृहस्थरत्नाकर के अनुसार जो प्रथम पांच प्रकारों के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले विवाह में कन्या एक पुरुष को एक ही बार दी जाती थी और शेष तीन प्रकार से सम्पन्न होने वाले विवाह संस्कार में यदि कन्या पक्ष को अन्य कोई दूसरा श्रेष्ठ वर प्राप्त हो जाए तो वह पहले से तय किए हुए विवाह को तोडकर दूसरे अन्य योग्य वर से दूसरी बार विवाह कर सकता था। [2]

1.(क)शरवस्मृति (4,6,8)

(ख) मनुस्मृति (10,10)

अर्थात् प्रथम पाच प्रकार के विवाहो मे कन्या का दान पहले से तय वर से ही होता था अर्थात् एक बार ही होता था। परतु अन्तिम तीन प्रकार के विवाहों मे कन्या को अच्छा वर मिलने के कारण पहले को छोडकर दूसरे उच्च व योग्य वर से ब्याह कर दिया जाता था।

पति–पत्नी के पारस्परिक कर्तव्य

पति का कर्तव्य होता था कि वो अपनी पत्नी का हर प्रकार से ध्यान दे अर्थात् हर प्रकार की जैसे सामाजिक आर्थिक सुरक्षा प्रदान करे। यदि व्यक्ति की एक से अधिक पत्नी हो तो उनका भी उसे हर प्रकार से ध्यान देना चाहिए। [1]

गृहस्थरत्नाकर ने कहा कि यदि कोई अपनी पत्नी के अच्छे आचरण से युक्त हो उसे छोड दिया हो तो उसे वापस रखना पडेगा। [2] पुरुष यदि ऐसा करता है तो वह कठोर दंड का भागी होगा। पत्नी ईश्वर द्वारा प्रदत्त उपहार मानी जाती थी। उसकी उपेक्षा करने को ऐसा अपराध माना जाता था जितना कि उसे चोट पहुँचाना था। शारीरिक क्षति पहुंचाने के बराबर समझा जाता था। [3] साथ ही यह भी कहा गया है कि नींच व दुष्टा पत्नी का भी भरण–पोषण उसे करना पडता था, बस उसको दी जाने वाली सुविधाओं का स्तर निम्न हो जाता था।

आगे बताया गया है कि यदि अपनी सच्चरित्र पत्नी को कोई परेशान करता था या छोड देता था तो इसके लिए यह विधान था कि राजा उसे विवश करता था कि वो उसे वापस अपने पास रखे यदि वे पुरुष इस से

1 मदनपारिजात (150–153)

2 गृहस्थरत्नाकर (48)

इन्कार करता था तो राजा पुरुष को दण्ड देता था कि वो अपनी पत्नी को उसके भरण–पोषण के लिए अपनी सम्पत्ति से एक तिहाई भाग दे और यदि पुरुष निर्धन है तो इसके लिए मेहनत –मजदूरी करके अपनी परित्यक्ता स्त्री के भरण–पोषण की व्यवस्था करे। [1]

पत्नी अपने हर कार्य के लिए पति पर आश्रित थी। उसे किसी प्रकार की स्वतंत्रता नही प्राप्त थी। स्त्रियों के कर्तव्य का निर्धारण इस प्रकार से किया गया था कि वो कुसंघाति से दूर रहें, पति के प्रति पूरी निष्ठा व्यक्त करें। [2] पति के प्रति विश्वासघात न करें, कोई भी कार्य करें तो इसमें पति की सहमति का होना आवश्यक है। वह पति के साथ–साथ उसके परिजनों का भी आदर करे सास–ससुर व अन्य बडे व्यक्तियों के सामने मर्यादा पूर्ण ढंग से रहे व इस तरह के वस्त्रों को धारण करे जिससे उसके शरीर का प्रदर्शन न हो। पति अगर जीविकोपार्जन हेतु परदेश चला जाए तो यह संयमित आचरण से रहकर उसकी प्रतीक्षा धैर्यपूर्वक करे।

यदि पत्नी में कोई शारीरिक या चारित्रिक दोष हो तो पति यदि अतिक्रमण करके उस पत्नी के अतिरिक्त अन्य दूसरा विवाह कर लेता है तो पराशरमाधव के स्मृति के कठोर नियम को थोड़ा लचीला बना दिया कि यदि सन्तानोत्पत्ति के लिए एक पत्नी के रहते हुए भी व्यक्ति दूसरा विवाह करता है तो उसे उचित ठहराया है किन्तु केवल यौन–सुख के लिए किया गया इस तरह का विवाह अनुचित माना है। [3] किन्तु आगे ग्रंथकार ने कहा है कि

1.पराशरमाधव (I, 506)

2.गृहस्थरत्नाकर (86)

3.व्यवहारविवेकोद्योत (318)

उपर्युक्त बताए गए विवाह मे पत्नी की सहमति आवश्यक थी अन्यथा पुरुष को दूसरा विवाह करने के कारण दण्ड का भागी होना पडता था। [1] यदि पूर्व ब्याही पत्नी अपना स्त्री–धन नवब्याहता पत्नी को नहीदेना चाहती तो पुरुष उसे बाध्य नही कर सकता था। पूर्व ब्याहता अपने समान अधिकार के लिए न्यायालय कीसहायता से अपने अधिकारो को प्राप्त करती थी। [2]

माता तथा बहन के रूप में स्त्रियॉ सम्मानित थी किंतु पत्नी के रूप में उन्हें पति की हर प्रकार से सेवा प्रदान करने का शास्त्रीय निर्देश था। हालांकि पति के अत्याचारों के विरुद्ध पत्नी को राजा से न्याय प्रार्थना की अनुमति थी। उत्तराधिकारी व सम्पत्ति से संबंध में उन्हें पहले से ज्यादा अधिकार प्राप्त थे।

बाल–विवाह

असम के सिवा संपूर्ण भारत मे बाल–विवाह प्रचलित था। असम में केवल ब्राह्मण व क्षत्रियो मे ही यह प्रथा प्रचलित थी। राजनीतिक व समाजिक परिस्थितियो के कारण ऐसा करना पडता था विशेषकर हिंदू परिवारो में। प्रत्येक पिता अपनी कन्या का विवाह यथाशीघ्र करना चाहता था। प्रचलित रिवाज के अनुसार माता–पिता के घर मे छः या आठ वर्ष से अधिक उम्र तक लडकियो का रहना वर्जित माना जाता था।

स्मृतियों के अनुसार युवावस्था को प्राप्त करने के पूर्व ही पुत्री का विवाह कर देना चाहिए। युवावस्था को प्राप्त कन्या को घर मे रखने के

---

1 व्यवहारविवेकोद्योत (319)

2. मदनपारिजात (190–196)

बजाय उसकी शादी अयोग्य वर से ही कर देनी चाहिए।[3] वैदिक काल व उसके पूर्व से ही कन्या का विवाह तभी सम्पन्न कर देना चाहिए, जबकि उसे अपने वस्त्र भी ठीक से धारण करने का ज्ञान न हो। इसी परिप्रेक्ष्य मे स्मृतियो ने नग्निका विवाह को प्राथमिकता दी है उनके अनुसार इस तरह की कन्या का दान सर्वोत्तम दान है।[1]

इसी प्रकार महाभारत में सर्वश्रेष्ठ विवाह के लिए क्रमशः वर कन्या की विवाह योग्य अवस्था 8 : 24, 30 :10, 12 :36 और 7:21 की बताई गई है। इसमें सर्वश्रेष्ठ विवाह महाभारत के आदि पर्व मे 12:36 को बताया गया है। किन्तु इन तथ्यों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उस समय की ये परम्परा बालिकाओ पर अत्याचार के समान था जो कन्या अपना वस्त्र ठीक से धारण नही कर सकती थी उस पर पूरे गृहस्थी का बोझ डाल देना कहॉ की बौद्धिकता थी।

विधवा –विवाह

प्रांरभिक मध्य काल में कुछ निम्न जाति के सिवा हिन्दुओं मे विधवा-विवाह का बिल्कुल लोप हो गया था। पूर्व वैदिक काल से ही ये परम्परा चली आ रही थी कि पति की मृत्य के पश्चात या तो स्त्री को पति के साथ चिता मे जलकर प्राण त्याग देना चाहिए या तो मृत्युपर्यन्त सन्यासिनी की तरह जीवन व्यतीत करे। यदि कोई स्त्री इसका विरोध करती थी तो उसे समाज में अच्छी निगाहो से नहीं देखा जाता था। ऐसी स्थिति में सतीप्रथा का

2.पराशरमाधव (I,–509)

3 मेधातिथि (9–1)

प्रचलन स्वाभाविक था। विधवाओ को पुनर्विवाह का अधिकार नही प्राप्त था। परन्तु निम्न जाति मे विधवा विवाह सम्भव थे। परन्तु उच्च जाति मे विधवा विवाह निषेध था। किसी भी मध्य कालीन शासक द्वारा इसको पुन प्रचलित करने का प्रयत्न नही हुआ। अकबर ने भी विधवा विवाह का प्रचलन प्रारभ कराना उचित नही समझाा। हालाकि इस विधान में कुछ नरमी लाते हुए उसने विधवा–विवाह को कानूनी मान्यता थी। उसका मत कि जो नवयुवती अपने पति के साथ सुख भोग नहीं कर सकी उसे सती नही किया जाना चाहिए। यदि हिन्दू इसे अनुचित मानते हें तो उस स्त्री का विवाह किसी विधुर से कर दिया जाना चाहिए। यूं तो तत्कालीन समाज मे एक पुरुष व एक स्त्री का विवाह मान्य था किन्तु धनवान व सम्मानित व्यक्तियों मे बहुविवाह प्रचलित था। उच्च और मध्यमवर्गीय समाज में व्याप्त इस प्रथा की ओर तत्कालीन शासको का ध्यान गया और उन्होंने यह प्रतिबंध लगाया कि साधारण आय वाले व्यक्ति को एक विवाह करना चाहिए, यदि पहली औरत बॉझ हो तभी उसे दूसरा विवाह करना चाहिए।

हिन्दुओ में कुछ धनिकों व राजाओं को छोडकर प्रायः एक विवाह की प्रथा थी। यही स्थिति कमोवेश मुस्लिम समुदाय की भी थी। स्त्री का बांझ होना था व्यभिचारी हो जाना– जैसी कुछ विशेष परिस्थितियों के अलावा हिन्दू विधि में किसी व्यक्ति द्वारा तलाक देने की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसके विपरीत मुसलमानों में ऐसा कोई प्रतिबध नहीं था। उनके नियमों के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी भी स्त्री के साथ विवाह कर सकता था।

---

1 गृहस्थरत्नाकर (86)

प्रवेश नही मिलता था, उन्हें घर के बाहर, या उसके पास ही रहने –खाने व वस्त्रादि की सुविधा देनी चाहिए। ऐसा विधान था। इतनी दया अवश्य की जाती थी कि उन्हे मृत्युदण्ड नही दिया जाता था। और नही उनका अग–भग किया जाता था हॉ इतना अवश्य था कि ऐसी महिला यदि विवाहित हो तो उसे पतिच्युत होना पडता था और यदि अविवाहित होती थी तो वह विवाह से वंचित रखी जाती थी वैदिक स्मृतियों के अनुसार इन स्त्रियों से व्यवहार समाप्त कर देना चाहिए। जो महिला रोग से ग्रसित होती थी ऐसी परित्यक्ता स्त्री से पुनर्विवाह वर्जित था।पति के परदेश जाने पर या मृत्यु हो जाने पर अपनी दुश्चरित्रता के कारण गर्भवती स्त्री को विदेश भेज देना चाहिए।[1]

यदि ब्राह्मण स्त्री अपने ससुराल से किसी व्यक्ति के साथ बाहर जाकर रहती है अपनी सहमति से, तो वह प्रायश्चित के पश्चात भी अपने घर वापस नहीं आ सकती, ऐसा विधान था। ब्राह्मण स्त्री के प्रायश्चित के पश्चात् भी उसे वापस घर लौटने की अनुमति नहीं प्राप्त थी।[2] विधवा हो जाने पर स्त्री के पति की मृत्यु के बाद पति की चिता में ही उसके साथ जल जाने का विधान था।

बृहस्पति व अन्य सभी स्मृतियों में ऐसा ही कहा गया है कि पत्नी को पति के साथ सती हो जाना चाहिए। उनके अनुसार सहमरण, अनुमरण व अनुगमन यदि सती प्रथा के पर्याय थे। यदि किसी स्त्री का पति विदेश में मर जाए तो उसे यदि उसकी हड्डी प्राप्त हो तो उसके साथ अन्यथा स्वयं ही

[illegible]

1. पराशरमाधव– (II, 324–25)

चिता बनाकर उसके नाम पर सती हो जाना चाहिए। ब्राह्मण स्त्री को इस प्रथा से किसी प्रकार की छूट नही थी परतु अन्य जाति में यदि स्त्री गर्भवती है या उसके बच्चे अबोध है तो वो सती नहीं होती थी।

सभी स्मृतियों व सारो ने इस प्रथा का एक स्वर से अनुमोदन किया है व स्त्रियो को स्वर्ग प्राप्ति के लिये उत्तम साधन बताया है।

पूर्व वैदिक काल व वैदिक काल में तो यह प्रथा अपने चरम पर थी। परन्तु आगे चलकर इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन हुआ। ऐतिहासिक साक्ष्यों में भी सती प्रथा का समर्थन हुआ है। परन्तु इब्नबतूता कहता है कि 13 वीं शताब्दी के बाद से सती होने के लिए सुल्तान से अनुमति लेना पड़ता था। निष्कर्ष ये है कि बाद में यानी 13 वीं शताब्दी के बाद से स्त्रियों की दशा मे कुछ सुधार हुआ और सती प्रथा पर रोक लगाई गई। स्त्री स्वेच्छा से सती नहीं हो सकती थी। सम्भवतः मुहम्मद तुगलक (1325–1357) सर्वप्रथम मध्यकालीन शासक था जिसने इस जिसने इस कुप्रथा पर पर रोक लगाई। [1]

स्त्रियों की दशा

स्मृतियों के अनुसार स्त्री कौमार्य तक (अविवाहित अवस्था) पिता के सरक्षण में, विवाह के पश्चात् पति के सरक्षण में, व वृद्धावस्था मे पुत्र के सरक्षण में रहे अर्थात् जन्म से मृत्युपर्यन्त उसे पुरुष के संरक्षण में रहने का विधान था। उसके लिए स्वतंत्र रहने का कोई विधान नहीं था। वैदिक युग के बाद वाली सदियों में महिलाओं की स्थिति में निशिचित रूप से विकृति आयी। उन पर अनेक प्रकार के बंधनों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। हिंदू

---

1 मध्य भारत का सामाजिक इतिहास (पृष्ठ–45)

स्त्रियो की दशा पहले की तुलना मे गिर गयी। हमारी स्मृतियों के अनुसार स्त्रियो की दो प्रमुख श्रेणी थी। 1—ब्रह्मवादिनी स्त्री को पुरूषों की भॉति ही अधिकार प्राप्त थे अर्थात् उनका उपनयन सस्कार किया जाता था, वो अग्नि प्रज्ज्वलित कर सकती थीं, भिक्षा मॉग सकती थी व अन्य सामाजिक कार्य कर सकती थी जो कि पुरूषो के लिए ही थे आशय ये कि इस श्रेणी की महिलाओ की स्थिति समाज मे अपेक्षाकृत दूसरी श्रेणी की महिलाओ की अपेक्षा ज्यादा अच्छी थी 2—दूसरी श्रेणी मे सद्योवधु आती थी जिनका कि उपनयन संस्कार भी येन केन प्रकारेण ही विवाह के पूर्व किया जाता था।इस श्रेणी की महिलाओं की स्थिति प्रथम श्रेणी की अपेक्षा ज्यादा खराब थी इन्हें स्वतंत्र रूप से कोई भी कार्य करने का अधिकार नहीं था करती थी वो जो भी कार्य करती थी सभी मे पुरूषों की अनुमति अनिवार्य थी। एक प्रकार से उनकी स्थिति दासी के समान थी।

अपराध करने पर स्मृतियों मे वर्णित कानून के अनुसार दण्ड का विधान था। अलग—अलग अपराध के लिए अलग—अलग प्रायश्चित्त का विधान था।[1] परतु गम्भीर अपराध करने पर मृत्युदण्ड तक की व्यवस्था थी। यदि स्त्री ससुराल वालों को परेशान करती थी अर्थात् उन पर काला जादू (तत्कालीन प्रचलन मे था) करवा देती थी या जहर आदि देती थी तो ऐसी स्त्रियो को गृह से निष्कासन तक का प्रावधान था। उनसे घर के सदस्य बातचीत करना बंद कर देते थे। यदि स्त्री ने बिना पति की सहमति प्राप्त किये बिना गर्भपात करा लिया है तो ऐसी स्त्री को घोर अपराधिनी माना जाता था और उसका घर से निष्कासन तो निश्चित ही था साथ ही बाल हत्या के

1.प्रायश्चित्तसार (32,56,64 और 75)

अभियोग मे उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाता था तथा पुरूष द्वारा उसका परित्याग आवश्यक था।[1] मृत्युदण्ड का विधान बहुत ही गम्भीर अपराध था। प्राय इस दण्ड से बचा जाता था। ब्राहमण स्त्रियों के लिए विशेष प्रायश्चित विधान था। प्रायश्चित के पश्चात स्त्रियो को पुन अपने परिवार मे वापस आ सकती थी किन्तु अपराध के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित का विधान था।

संपत्ति का अधिकार

स्त्री की सपत्ति के संबध में स्मृतियों मे वर्णन है कि हिन्दू महिला को माता–पिता की संपत्ति मे कोई अधिकार नहीं प्राप्त था। यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती है तो पति की संपत्ति का आधा–आधा भाग पत्नी व पुत्र मे समान रूप से बॅट जाता था।[2] इसी स्मृति मे वर्णित संपत्ति के अधिकार के आधार पर आगे भी कोई परिवर्तन न होकर उसी विधान से निरतरता बनाई गई अर्थात पति की मृत्यू के पश्चात यदि स्त्री को पति या ससुराल पक्ष से कोई स्त्रीधन नही प्राप्त है तो पति की संपत्ति मे से वो 1/2 भाग की हकदार होती थी शेष का हक उसके पुत्र को मिलता था।[3] परन्तु समाज के ठेकेदारों ने यहॉ भी अपनी मर्जी को स्त्री पर थोपा, अर्थात यदि सतान ब्राहमण स्त्री से उत्पन्न था तो सपत्ति का 1/2 भाग यदि

---

1 पराशरमाधव (III, 29 और 34)

2 याज्ञवल्क्यस्मृति (I, 115)

3 विवाद रत्नाकर (65)

4 मनुस्मृति (662–63) — P.T.O.

क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न हो तो 3/4 यदि वैश्य से उत्पन्न हो तों 1/2 व शूद्र स्त्री से उत्पन्न सतान को सपत्ति के आधे का 1/4 हिस्सा मिलता था। [4]

यदि पति निसंतान मर जाए तो विधवा का संपत्ति पर सबसे पहला अधिकार माना जाता था। याज्ञवल्क्यस्मृति द्वारा इस प्रथा को मान्यता दी गई।बाद के ग्रंथकारों ने भी आलोचना के बावजूद इस कथन के को सिद्ध किया है। याज्ञवल्क्य के स्मृति के अनुसार माता की संपत्ति मे पुत्री का भी हिस्सा होता था।माता की मृत्यु के बाद कर्ज आदि अदा करने के पश्चात् पुत्री का भी माता की संपत्ति मे समान हक माना जाता था। [1]

यह कहा गया है कि यदि पत्नी सच्चरित्र है तो पहला अधिकार उसी का माना जाता था। किन्तु यदि वह दुराचारिणी है तो उसका अधिकार समाप्त हो जाता था। यह नियम सभी तरह के अनुलोम व प्रतिलोम विवाहो द्वारा सभी पत्नियों पर क्रमश· लागू था चाहे वो ब्राह्मण हों या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यदि स्त्री विधवाधर्म का पालन करती थी तो यदि उसके पति की कोई संतान (सगी या सौतेली) नहीं होती थी तो उस संपत्ति पर विधवा का अधिकार होता था। किन्तु यदि स्त्री पुनर्विवाह कर लेती थी तो उसे उतनी सपत्ति ही मिलती थी जिससे वो जीवन यापन कर सके। [2]

विधवा के अधिकार को तत्कालीन समाज में मान्यता दी गई थी कि यदि पति ने एक स्त्री के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से संबंध स्थापित किया है और वह उसके साथ नहीं रहती तो मृत्यु के पश्चात् उन्हें केवल भरण–पोषण हेतु ही संपत्ति प्राप्त होगी। [3]

---

1 याज्ञवल्क्यस्मृति (I, 117)

2 व्यवहारविवेकोद्योत (359)

शूलपाणि ने भी इसी बात का अनुमोदन किया है व्यवहार काण्ड मे विधवा के अधिकार जो बताए गए हैं सम्पत्ति के वो सिर्फ ब्राहमण विवाह से सबधित पत्नी को ही प्राप्त थे। खरीदी गई स्त्री को नहीं।[1]

कोई भी स्त्री संपत्ति को बेच नहीं सकती थी।बिना सबंधियोकी अनुमति के।[2]

विधवा पत्नी पति की मृत्यु के बाद उसकी चल व अचल संपत्ति की मालकिन हो जाती थी जो सतानहीन हो ।[3]

पत्नी को संपत्ति पाने के एवज मे हर वर्ष पति के मृत्यु के बाद उसकी बरसी व श्राद्ध कर्मों को सम्पन्न करे। तभी वो उसकी सम्पत्ति की अधि ाकारी हो सकती थी।[4]

स्त्रीधन जो स्त्री को माता–पिता द्वारा विवाह के पश्चात मिलता था या उसे ससुराल में प्राप्त होता था वो धन उस स्त्री का 'स्त्रीधन' कहलाता था। स्मृतियो में इसकी राशि को अलग–अलग रूप में बताया गया है।[5] अपने स्त्रीधन का मनचाहे ढंग से उपयोग स्त्री कर सकती थी। वो उस धन को जो चल व अचल रूप में रहता था। जिसमें से चल सपत्तिको बेच सकती थी या किसी को उपहार मे दे सकती थी। अचल संपत्ति के साथ उसे विकय का अधिकार नहीं प्राप्त था।

बाद में ग्रंथकारों ने इसकी विवेचना इस प्रकार किया है कि वह स्त्री जो निःसतान हो वो अपने स्त्रीधन को अपने भाई बहनों या विवाहित

1 व्यवहार काण्ड (405–8)

2 .पराशर माधव (II,–360)

3 व्यवहार सार (250)

4 विवाद चिन्तामणि (237)

बहनो अथवा अपने माता–पिता को स्वेच्छा से दे सकती है।[1] ये व्यवस्था वो तब करती थी जब उसके ससुराल पक्ष मे कोई नही होता था, या तो वो उनसे अपना सबध विच्छेद कर लेती थी और वो जीवन–यापन के लिए अपने माता–पिता के घर की शरण लेती थी।

पर्दा–प्रथा

वैदिक युग के बाद वाली सदियों मे महिलाओं की स्थिति में निश्चित रूप से विकृति आई थी, किन्तु इस युग (सल्तनत कालीन) में बाल विवाह का कोई संकेत नही मिलता। इस्लाम के आगमन के साथ ही भारतीय क्षितिज पर नई परम्पराओं का उदय हुआ। मुसलमानों के मूलदेश में महिलाओं का घूंघट मे रहना अनिवार्य समझा जाता था। स्वभावतया भारत जैसे विदेशी स्थान पर भी इस पर विशेष जोर डाला गया। स्मृतियो के अनुसार वैदिक युग में स्त्रियो के लिए पर्दा प्रथा का कोई विधान नही था परन्तु आगे चलकर पर्दा प्रथा का आविर्भाव हुआ। इसका एक मुख्य कारण ये था कि उस समय तक भारत मे तुर्कों का आगमन हो चुका था और वे (मुसलमान) हिन्दू स्त्रियो से विवाह करने को लालायित रहते थे। अतः उनसे बचावके लिए स्त्रियो को पर्दे में रखा जाने लगा। एक और कुप्रथा ने जन्म लिया वो था बाल –विवाह। हिन्दुओं ने अपनीनारी जातिकी सुरक्षा तथा उसकी मर्यादा की सुरक्षा के लिए पर्दा प्रथा को अपनाया। ऊंचे घरानों में पर्दा प्रथा का पूरा पालन किया जाता था परंतु निम्न वर्ग में इसका चलन नहीं था उनकी स्त्रियॉ पुरुषों के साथ उनके उद्योग धन्धो में भी बराबर सहयोग देती थीं। अमीर व शाही घरानो में

---

1. मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका

पुरुषो व औरतो मे सदेश वाहक के रूप बडी सख्या में हिजडे रखे जाते थे। पर्दा प्रथा के चलते बीमार औरतो के इलाज के लिए भी मर्द चिकित्सक को शाही या अमीरो के जनानखाने प्रवेश नही मिलता था। ऐसा मौका आए भी तो उन्हे सेवक तथा हिजडों घिरी और पूरी तरह ढकी पालकी में बंद होकर जाना पडता था।

यदि कोई मुसलमान महिला किसी कारणवश थोडे समय के लिए भी पर्दा त्याग देती तो उसे भयंकर परिणाम भुगतना पडता था। सल्तनत काल मे काबुल के गर्वनर अमीर खॉ ने अपनी बीबी को केवल इसलिए छोड दिया था कि हाथी के पागल हो जाने पर जान बचाने के लिए नीचे कूदते समय के लिए बेपर्दा हो गई थी।

इसके विपरीत उस समय भी राजपूत महिलाओं को पर्दा प्रथा की कुप्रथा से मुक्ति मिली थी। औरतें प्रायः युद्धकला की शिक्षा ग्रहण करती थी और प्राय शिकार तथा अन्य अभियानों में भी भाग लिया करती थी। युद्ध के समय जब राजपूत युद्ध के मैदान में होते थे तो, किले की सुरक्षा के लिए, दुश्मनों से मुकाबला करने के लिए राजपूत कन्याओं को युद्धाभ्यास कला में पारगत किया जाता था।

दक्षिण भारत मे भी कुछ प्रतिष्ठित मुसलमान परिवारो को छोडकर पर्दा का रिवाज नहीं था। [illegible] साम्राज्य में भी पर्दा प्रथा केवल शाही परिवार के सदस्यों तक ही सीमित था। मध्यमवर्गीय हिंदू परिवारों में भी पर्दा प्रथा का इतनी कड़ाई से पालन नही होता था तथा हिन्दुओं मे जन साधारण स्तर पर तो इसका प्रचलन नहीं के बराबर था। हिंदू महिलाएं बिना

किसी विशेष प्रतिबध के घर के बाहर जा सकती थी। मुस्लिम औरतों की तरह उन्हे अपने सिर से पैर तक ढके रखने की विवशता नहीं थी। सिर ढकने के लिए आचल या दुपट्टा पर्याप्त समझा जाता था। समाज के निम्न वर्ग की औरतो पर्दा प्रथा से पूरी तरह से मुक्त थी। उनसे बाहरी कार्यो तथा घरेलू आर्थिक व्यवस्था के हर क्षेत्र में पति की सहायता करने की अपेक्षा थी। [1]

बेटियों की दशा समाज में हीन समझी जाती थी। जहा पुत्र के जन्मोत्सव को उत्साह से मनाया जाता था, वही पुत्री के जन्म को अशुभ समझा जाता था। राजपूत प्राय· कहते थे कि पुत्री के जन्म का दिन उनके लिए अभिशाप स्वरूप है। उनकी मान्यता थी कि पुत्री के कारण उन्हें दूसरों के आगे सिर झुकाना पडता है। यदि किसी स्त्री के लगातार बेटियां होती थीं तो उसका दुराव होता था और उसका परित्याग तक कर दिया जाता था। माता के रूप में तो स्त्री को सम्मान प्राप्त था किन्तु पुत्री के रूप में प्रायः उन्हें अपमान झेलना पडता था।

बाल–विवाह

उन दिनो कुछ ऐसे रिवाज प्रचलित थे जिनके अनुसार जन्म के बाद आठ वर्षों से अधिक समय तक लडकियों का अपने माता–पिता के घर रहना वर्जित माना जाता था। ऐसे सख्त रिवाज व बहुत कम उम्र में विवाह सम्पन्न किए जाने से दूल्हा और दुल्हन को अपना मन पसंद जीवन साथी चुननेका अवसर नही मिलता था, जिसके कारण वैचारिक मतभेद के चलते उनका वैवाहिक जीवन कलहपूर्ण ढंग से व्यतीत होता था। युवावस्था के पूर्व अर्थात अबोध कन्या का विवाह यदि योग्य वर न मिले तो अयोग्य वर से ही

1 मध्यकालीन भारत–एल पी. शर्मा (249)

कर देना चाहिए किन्तु उन्हे युवावस्था तक पिता के घर मे नही रहना चाहिए। ये सभी प्रथाए निरीह कन्याओ के प्रति अत्याचार की पराकाष्ठा थी। किंन्तु आगे चलकर उनकी स्थिति मे कुछ सुधार हुआ। तत्कालीन तुर्क शासकों ने यह आदेश जारी किया कि 14 वर्ष से कम की कन्या व 16 वर्ष से कम के लडके विवाह न करे। उच्च वर्ग के राजपूत परिवारों लडकियों को अपना वर चुनने की स्वेच्छा प्राप्त थी। बहुधा राजपूत स्त्रियां अपने विवाह की शर्ते स्वयं रखती थी। राव सरधान की बेटी बारावाई ने यह शर्त रखी थी कि वह उसी नवयुवक से विवाह करेगी जो उसके पिता के राज्य को टोड को पठानों से मुक्त करा देगा। पृथ्वी राज के भाई जयमल ने यह शर्त स्वीकार कर उससे विवाह किया था। एक अन्य उदाहरण में मोहिल सरदार की सुन्दर कन्या कर्मदेवी ने मंदौर के राव के उत्राधिकारी से अपनी सगाई अस्वीकार कर के, युगल के राजकुमार साधु की पत्नी बनना स्वीकार किया था।

सती प्रथा व विधवा की स्थिति

वैदिक काल से ही ये परम्परा चली आ रही थी कि जिस स्त्री का पति मर जाए उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं था, व उसे किसी भी सामाजिक [illegible] समारोहों मे उपस्थित रहने का अधिकार नहीं था। उसकी जिंदगी बहुत ही कष्टप्रद व अनेक बंधनों से पूर्ण होती थी जिससे उसका सामान्य रूप से जीवन व्यतीत करना उसके लिए एक कठिन परीक्षा की तरह हो जाता था। इन सब स्थितियों के परिणाम स्वरूप ही सती प्रथा का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार की यातना पूर्ण जिंदगी बिताने की अपेक्षा स्त्रियां

सती हो जाना ही श्रेयस्कर मानती थी। इस प्रथा के अनुसार जिस स्त्री का पति मर जाता था वो उसके मृत शरीर के साथ चिता में जीवित जल जाती थी। यह एक तरह से जीवित स्त्रियों पर अत्याचार की पराकाष्ठा थी। तलाक और पुनर्विवाह मुसलमानो में तो आम बात थी लेकिन यह हिन्दुओं मे वर्जित था। कुछ नीच जाति के लोगों को छोडकर विधवा विवाह की प्रथा लुप्त हो चुकी थी सती होने के लिए विवश की जाती थी। वे विधवाएं जो पतियो के साथ सती नहीं होती थीं, समाज के द्वारा बहुत सताई जाती थी। उनके बाल कटवा दिए जाते थे, जेवर नहीं पहनने दिया जाता था, ऐसी अभागी विधवाओं को मायके में रहना पडता था, जहा उन्हें दासी के समान समझा जाता था। विधवा के प्रति उसके परिवार वालों का व्यवहार ठीक नहीं होता था।

दिल्ली के कुछ सुल्तानो ने हिन्दुओं के बडे समुदाय में विशेषकर ऊंचे घरानों में प्रचलित सती की प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया था। हालाकि दक्षिण में सती की प्रथा स्वेच्छा पर निर्भर थी। परन्तु विजयनगर साम्राज्य में यह प्रथा बहुत व्यापक रूप से प्रचलित थी। शायद वहां के राजाओ ने भी इस पर रोक नहीं लगाई थी। संभवतया महमूद तुगलक (1325–1351) प्रथम मध्य कालीन शासक था जिसने सती प्रथा पर प्रतिबंध लगाया था। [1] उसके राज्य क्षेत्र में किसी विधवा का सती होने के पूर्व राजाज्ञा लेनी होती थी। ऐसे कानून थे कि किसी विधवा को सती होने के लिए विवश नहीं किया जाए। यही कानून संभवत· सीदी अलीरईस के समय में भी लागू थे वह संभवतः 1553–56 के बीच भारत आया था, उसने लिखा है कि सती होने के स्थान पर सुल्तान के अफसर सदैव यह देखने के लिए मौजद रहते थे कि

किसी स्त्री को जबरन न जलाया जाए। आगे भी सती प्रथा पर प्रतिबध लगे तथा स्त्रियो को इस अमानुषिक अत्याचार से कुछ राहत मिली। परन्तु फिर भी ये पूरी तरह से समाप्त नही हुए। इसके उदाहरण आज के समाज मे भी यदा कदा मिल जाते है जबकि सती प्रथा को बद कराने के लिए अत्यधिक कठोर कानून है और अपराध सिद्ध हो जाने पर कठोर दड की भी व्यवस्था है तथापि धर्म के ठेकेदारों अवसर प्राप्त होते ही कही न कहीं आज भी सती प्रथा को बढावा देते हैं।

विधवा को पति की संपत्ति में से उसका हिस्सा प्राप्त होने का विधान था। यदि किसी स्त्री के संतान है तो पति का धन स्त्री व पुत्र में आधा भाग में विभाजित कर दिया जाता था। [1] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार पुत्री का भी माता की संपत्ति पर अधिकार होता था यदि किसी स्त्री की मृत्यु हो जाती थी और यदि उसके पुत्र नही है तो कर्ज आदि अदा करने के पश्चात बचे धन की आधिकारिणी पुत्री होती थी। जो धन स्त्री अपने मायके से विवाह के समय (जेवर आदि) पाती थीं वह उसका स्त्री धन होता था जिसको अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकती थी। [2] वे तो हुई सम्पत्ति के अधिकारों की चर्चा। अब हम स्त्रियों के तत्कालीन समाज मे व्याप्त अन्य स्थितियों का अवलोकन करेंगे।

पत्नी का स्थान

पत्नी के रूप में स्त्रियों की दशा पति के संबंध के आधार पर तय किया जाता था। जन्म मे लेकर विवाह तक स्त्री अपने माता–पिता के घर

1.याज्ञवल्क्य–स्मृति (I.117)

मे रहती थी और वे ही उसकी शादी कर देते थे, विवाह के मामलो मे स्त्रियों की इच्छा– अनिच्छा का कोई महत्व नही था, उन्हें भेड बकरियो की एक घर से दूसरे पर बाध दिया जाता था। वे मूक जानवरो की तरह विद्रोह भी नहीं कर सकती थी। विवाह के बाद स्त्रियॉ अपने सास के नियत्रण मे रहती थी। यदि घृणा वश कोई स्त्री अपने घर वालो से विरोध करती या प्रतिक्रया जाहिर करती तो उसके लिए दण्ड का विधान था ऐसी स्त्रियों से बातचीत बन्द करने से लेकर उनके परित्याग तक का विधान था। [1] अलग–अलग प्रकार के अपराध के अलग–अलग दण्ड निश्चित किए गए थे स्मृतियों के अनुसार गम्भीर अपराध में मृत्यु दण्ड तक का विधान था प्रायश्चित कर लेने पर उन्हे क्षमा करने का भी विधान था। [2] यदि स्त्री घर की बडी बहू होती थी व सास के प्रभाव से अलग रहती थी तो सभी घरेलू मामलो मे उसका महत्व या अपने पति के साथ जब तक पत्नी के संबंध ठीक हो तो एक मर्यादित आश्रिता के समान रहती थी। हिन्दुओ मे ऐसी मान्यता थी कि कोई भी शुभकार्य स्त्री की उपस्थित व सहयोग के बिना पूर्ण नहीं हो सकता है क्योंकि वह पुरुष की अर्द्धांगिनी समझी जाती है। दोनो दूसरे का कहना मानते थे हालाकि पति की ही बात सर्वोपरि होती थी। किन्तु इतना होते हुए भी ऊचे घरानो की स्त्रियां विशेषकर राजपूतनिया अपने स्वाभिमान के मामलो में किसी की नहीं सुनती थी चाहे वो उनका पति ही क्यों न हो। [3] ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के अधिकांश हिन्दुओ का जीवन सुखी था कारण कि पत्नियो को बराबर का स्थान प्राप्त था और समाज में उनका सम्मान था, पुरुष कोई भी कार्य

---

1 पराशरमाधव (II, 324–25)

2 मदनपरिजात (268)

अपनी पत्नी के सहयोग या सहमति के बिना नही करता था। धार्मिक अनुष्ठान हो या घरेलू समारोह हर कार्य में उसे पति का साहचर्य प्राप्त था। केवल कही—कही अपवाद स्वरूप पत्नियो की स्थिति ठीक नही थी परन्तु ऐसा प्रायः कम ही दृष्टिगत होता है। निम्न वर्ग मे तो पत्निया पति का साथ घरेलू समस्याओ के अतिरिक्त समाज में उसके कर्मक्षेत्र अर्थात् जीविकोपार्जन के कार्यों मे सहयोग करती थी।

माता का स्थान

पुत्री, वधु व विधवा के रूप मे नारी की जो भी स्थिति रही हो, किन्तु इतना निश्चित है कि माता के रूप में उसका स्थान अत्यंत सम्मानजनक था। समकालीन युग में ऐसे कई अभिलेख प्राप्त होते है, जिससे यह पता चलता है कि कई मुसलमान शासक माँ की अगवानी के लिए थोड़ी दूर तक पैदल चल कर जाया करते थे। माता के सामने उपस्थित होने पर कोर्निस, सिजदा और तसलीम से अभिवादन करते थे। अपने जन्मदिन व अन्य शुभ दिन व समारोहों आदि के अवसर पर हिन्दू हो या मुसलमान शासक दोनों समान रूप से आशीर्वाद के लिए राजाकुमार व दरबारियो के साथ माता के पास जाते थे। राज्य में सर्वोपरि महिला का स्थान माता को प्राप्त था। माता के प्रति राजपूतो से अधिक सम्मान की भावना शायद ही किसी जाति मे ही हो उदाहरणार्थ उनकी महान भावना का द्योतक यह वाक्य कई बार सुनने को मिलता है कि "माता की लाज रखें"। पति की मां (सास) के रूप में भी उसका स्थान पत्नी से ऊंचा होता था यदि पत्नी सास का कहना नही मानती या उसका अपमान करती थी तो उसे दण्ड का भागी होना पडता था। माता

तथा बहन के रूप मे वे परिवार मे सम्मानीय थी।

स्त्रियो की शिक्षा

उस समय चूंकि मुसलमान आक्रमणकारियों का आगमन हो चुका था मुसलमान हिन्दू स्त्रियो को प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे और वे सर्वदा उनका अपहरण करने को तत्पर रहते थे। इस कारण अल्पायु में ही उसका विवाह होने लगा व हिन्दू समाज में पर्दा –प्रथा का प्रचलन प्रारंभ हुआ। स्त्रियों की शिक्षा पर भी इसका प्रभाव पडा वे स्वतंत्रता पूर्वक अपने घरों से बाहर से नहीं जा सकती थी इस कारण उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर में ही किया जाता था। यह सुविधा केवल धनवान व्यक्तियों की पुत्रियों को ही प्राप्त हो सकती थी, क्योंकि उनकी सुरक्षा की व्यवस्था समुचित रूप से हो सकती थी। मध्य व निम्व वर्ग की लडकियो की शिक्षा तो बिल्कुल ही नहीं हो पाती थी किन्तु सम्मानित परिवार की लडकियों को शिक्षा की समुचित व्यवस्था प्राप्त थी। कई ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जो यह बताते हैं कि उच्च वर्ग मुख्यत राजपूत घरानों मे लड़कियो को शास्त्र व शस्त्र दोनों की शिक्षा दी जाती थी। लडकियॉ किले की सुरक्षा व आत्मरक्षा के लिए शत्रुओं से घिर जाने पर युद्ध कौशल का प्रदर्शन करती थीं कभी–कभी तो ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि स्त्रियो द्वारा ही दुश्मनों को पराजय का मुंह देखना पडता था। आवश्यकता पडने पर स्त्रियॉ राज कार्य में भी समुचित सहयोग देती थी और कभी–कभी तो राजा केवल नाम–मात्र का होता था और स्त्रियॉ ही राज्य का संचालन सुचारू रूप से चलाती थीं ये सब उनके शिक्षित होने के कारण सभव था।

महिला विदुषी तथा प्रशासिका

नारियो को अलग व एकातवास में रखने के बावजूद मध्यकालीन भारत मे कई श्रेष्ठ लेखिकाए तथा अभूतपूर्व प्रशासन वाली महिलाए हुई है। मीरा बाई, देवल रानी, रूपमति, सलीमा सुल्ताना और जेबुलिन्नसा उस समय की प्रसिद्ध कवियित्रियॉ थी। रघुनाथ अभ्युदय मे मधुरवाणी की लेखिका तथा आध्ररामायण की छदोवद्ध अनुवादिका रामभद्रवाकाव्य पर दबिका परिणयम् की लेखिका तिरमलबा और मारिची परिणयम् नामक प्रेम कथा की लेखिका मोइनागी उस युग की प्रसिद्ध सस्कृत कवयित्रियॉ थी। इनके अतिरिक्त और कई महिलाए इस क्षेत्र में थी। महाराष्ट्र के स्वामी रामदास की शिष्या अकाबाई और केनाबाई महत्वपूर्ण साहित्यिक विभूतियों मे से थी। कोटा रानी ने कश्मीर के राज्य का सफलता पूर्वक सचालन किया। उसका राज्याभिषेक पति के साथ हुआ था। कोटा रानी के बाद कश्मीर मे यशस्वी, सहधर्मिणी, वीर नारी, शासिका एव सैनिक नेतृत्व करने वाली स्त्रियो की परम्परा का लोप होता है।[1]

स्त्रियो की उपयुक्त दशाओ का अवलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि सभ्रात व उच्च वर्ग की स्त्रियो को छोडकर शेष स्त्रियो की दशा मध्य काल मे शोचनीय थी। बाल विवाह, बहु विवाह, पर्दा प्रथा के चलते उनकी समुचित शिक्षा सम्भव नही हो पाती थी। साथ ही सती प्रथा, जौहर प्रथा, पुत्री की बाल हत्या, बहुपति विवाह, देवदासी तथा वेश्यावृति को बढावा देने वाली संस्थाओ ने स्त्रियों की दशा को कमजोर करने मे ही

1.वर्षे पंचदशे शुक्ल दशम्यां नमस्तत.।
तारेव नभसो राज्याद्राज्ञी भ्रंशमलब्ध सा ।।

योगदान दिया।

मुस्लिम समाज में भी स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। मुसलमानो में बहुविवाह का प्रचलन जन साधारण में भी था और एक मुसलमान कम से कम चार स्त्रियों से विवाह कर सकता था। धनवान व राजपुरूष तो सैकडो की सख्या में स्त्री दासी रखते थे व उनका शोषण करते थे। मुसलमानों में पर्दा प्रथा अत्यन्त कठोर थी। उनमे शिक्षा का प्रसार भी कम था जो क्रमशः आज के मुस्लिम समाज भी व्याप्त है। परन्तु मुसलमान स्त्रियां कुछ मामले में हिन्दू स्त्रियों से अच्छी थी। वे विधवा होने पर पुनर्विवाह कर सकती थी, तलाक दे सकती थी और उनमे सती प्रथा नहीं थी उन्हे अपनी मां बाप की सम्पत्ति में हिस्सा लेने का अधिकार था। परन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस युग में स्त्रियों की स्थिति खराब थी और स्त्रियों का स्थान 'भोग्या' के रूप में था। कुछ उच्च वर्ग के अपवादों के छोडकर।

परिधान

विभिन्न समुदायों के जन साधारण के वस्त्र प्रायः समान हुआ करते थे। मजदूर और किसान वर्ग के लोग सूती वस्त्र (लगोट) पहनकर सन्तोष किया करते थे, जिसका कपडा उनके घुटने तक लटकता था। जाडे के दिनों में साधारण लोग सूतीकोट पहनते थे जिनमें रूई भरी होती थी, यह काफी गरम व टिकाऊ होता था। उत्तरी भारत विशेषकर काश्मीर और पंजाब मे रूई भरी टोपी पहनने का प्रचलन था। उस समय सैनिकों के लिए विशेष प्रकार का लिबास पहनने का चलन नहीं था। उनकी पहचान केवल उनके द्वारा

धारण किये गये अस्त्रो–शस्त्रो से ही होती थी। शाही गुलाम कमर बन्द, लाल जूते व 'कुला' पहनते थे। कुछ लोग इतने निर्धन थे कि गर्म कपडे नही रख सकते वे सूती वत्रो या ईश्वर के सहारे जाडे की कडकती रात बिताते थे। सन्तो और योगियो को उनके वस्त्र से पहचाना जा सकता था। वे लोग रेशमी वस्त्रो से परहेज करते थे। मुसलमान सत सिर पर लम्बी दरवेश टोपी तथा पैरों मे काठ की चट्टी पहनते थे वे शरीर पर सिले कपडे का लम्बा चोगा पहनते थे। हिन्दू योगी के लिए कमर पर एक लंगोटी ही यथेष्ट थी।

उच्च वर्ग का परिधान

उच्च वर्ग के लोग अपने वस्त्रो पर काफी व्यय करते थे अमीर मुसलमान व पठान पायजामा व सलवार पहनते थे तथा अपने कुर्त्ते के ऊपर छोटा सा जैकेट नुमा कोट पहनते थे। काबा या लम्बा कोट जो घुटने तक लटकता रहता था, ऊपरी वस्त्र के रूप मे पहना जाता था। धनी हिन्दू भी कुर्ता पायजामा व कुर्ता धोती धारण करते थे व उसके ऊपरी रेशमी दुशाला ओढते थे व सिर को ढ़कने के लिए पगडी पहनते थे। उस समय कमर पर रंगीन व जरी वाले वस्त्र बांधने का चलन था। पुरूष हथियार अथवा कटार आदि लेकर चलते थे। धानिक वर्ग अपने वस्त्रादि पर काफी धन व्यय करते थे, तथा उच्च कोटि के कपडो का प्रयोग करते थे, जिनमें सूती, रेशमी मलमल उनकी आदि प्रकार शामिल थे।

राजा की पोशाक

मध्यकालीन युग में भी सुल्तान और अमीर मल्लिक और खान

आदि अपने उत्तराधिकारी मुगल बादशाहो और उमराओ की भांति जरी वाले रेशमी मखमली पोशाक पहनते थे। 13 वी शताब्दी के सुल्तानो व अमीरो की कई पोशाको का विवरण इतिहासकार अपनी पुस्तको में करते है। [1] मुस्लिमकाल के प्रारम्भ से कुतुबुद्दीन काल तक हिन्दू तथा मुस्लिम वेशभूषा मे अन्तर नही था। कुतुबुद्दीन के समय में इरानी वेशभूषा का प्रचार हुआ तत्कालीन समाज मे विभिन्न वर्ग के लोग अपने सामर्थ्य के अनुसार वस्त्रादि का प्रयोग करते थे। जामुरादी– (मोतियो के रग की पोशाक) जामा–ए–जारबत (जरी या सोने के तारों से बुना हुआ कपडा) कटान–ए–बिरारी, बरकरमान तत्कालीन संस्कृत महाकाव्य राजतरंगिणी मे राजा व सुल्तान के वस्त्रों का उल्लेख किया है। कल्हण ने अपने काव्य मे समाज के प्रत्येक वर्ग स्त्री–पुरूष आदि के वस्त्रों व आभूषणों वर्णन का अपने श्लोको मे किया है। [2] मुस्लिम काल–के प्रारम्भ से कुतुबुद्दीन काल तक हिन्दू–मुसलमान के वस्त्रो मे काफी समानता थी। कुतुबुद्दीन (1373 से 1389) के काल में ईरानी वेशभूषा का चलन प्रारम्भ हो गया था। सुल्तान स्वय ईरानी वेशभूषा धारण करता था। वह वेशभूषा अरब, ईरान तथा तुर्कीस्तान की शैली में बनी होती थी। मुस्लिम शासनकाल में कुलीनो का यही वस्त्र हो गया । हिन्दू राजा राजकीय चिन्ह, छत्र, चॅवर, ध्वजा, पताका एवं मुकुट धारण करते थे, वस्त्रों में घेरदार कुर्ता, चूड़ीदार पायजामा, उत्तरीय तथा पगड़ी धारण करते थे उनके वस्त्र रेशमी व उच्च श्रेणी के सूत से निर्मित होते थे।

1.तारीख–ए–फिरोजशाही (बरनी तथा अमीर खुसरो)

2.कल्हण कृत राजतरंगिणी–श्लोक संख्या

(2.165), (3.529) और (3:415) आदि।

शिरोवस्त्र–

पहले की कुला या सुल्तानी काल की लम्बी तातारी टोपी का स्थान पगडी ने ले लिया था। पगडी दोनो समुदायो के लोग सामान्य रूप से धारण करने लगे थे। मुस्लिम सफेद व गोलाकार पगडी बांधते थे जबकि हिन्दूओ मे रंगीन ऊंची नोकदार पगडी प्रचलित थी।

जूते–जुर्राबे बहुत कम पहनी जाती थी अधिकाश हिन्दू खाली पैर रहते थे। फिर भी बलबन (1265–1287) ने अपने सेवकों को जुर्राबें पहनने का आदेश दिया था। कट्टर धार्मिक प्रवृत्ति के कुछ मुसलमान नमाज मे सधे रहने के लिए जुर्राब का प्रयोग करते थे। उस समय तुर्की जुते का चलन अधिक था जो सामने से नोकदार तथा ऊपर से खुले होते थे। इन्हें आसानी से खोला व पहना जा सकता था। शौकीन लोग विशेषकर दरबारी व कुलीन वर्ग अपने जूते मखमली व जरी के बनवाया करते थे जिसमें रेशम या चमड़े के फीते लगते थे, बहुधा ऐसे जूतों पर हीरे जवाहरत टंकवाये जाते थे इन्हे हिन्दू व मुसलमान कुलीन वर्ग समान रूप से धारण करते थे जो उनकी सम्पन्नता को दर्शाता था।

महिलाओ की पोशाक

मध्यकाल में कश्मीर की महिलाये नील, निचोलव, कंचुकी धारण करती थी। मूर्धा पर शीर्षाशंकु रखती थी। [1] उत्तर भारत मे महिलाओं की पोशाक अनेक प्रकार की नहीं थी औरतों का सामान्य परिधान कमर पर लपेटने व सिर ढकने वाली साड़ी थी इसके साथ वक्ष पर पहने जाने वाली

1.कल्हण कृत राजतरंगिणी (2.247 और 294)

अगिया थी। सलवार व कमीज मुस्लिम स्त्रियो में प्रचलित पहनावा था। इसके साथ सिर पर ढकने के लिए चादर या दुपट्टा भी होता था। चूंकि उस समय महिलाओ मे पर्दा करना अति आवश्यक था अतः मुसलमान स्त्रियॉ बुर्का पहनती थी व हिन्दू मुसलमान स्त्रियो को ओढनी के साथ पीठ पर बंद वाली चोली पहने भी चित्रित किया गया है इसमें स्त्रियां घाघरा भी पहने है। जिसमे कशीदाकारी की गयी है। ऐसा परिधान प्राय हिन्दू व राजपूत स्त्रियाँ धारण करती थी। बगाली स्त्रिया कांचुली या चोली पहनती थी जो आधुनिक ब्लाऊज का स्वरूप है। धनी व निम्न वर्ग की महिलायें प्रायः अपनी हैसियत के अनुसार परिधानों को धारण करती थी। निम्न वर्ग सस्ते व सूती वस्त्रों का प्रयोग करता था। इसके विपरीत उच्च वर्ग की महिलाएं कीमती व रेशमी वस्त्र जिन पर सोने चांदी के तारों से कसीदाकारी रहती थी पहनती थीं। कुछ औरते उत्तम किस्म की कश्मीरी शाल का भी प्रयोग करती थी मध्यकालीन भारत में पुरूषों की अपेक्षा महिलायें जूतों का प्रयोग अधिक करती थी।

प्रसाधन

'आइन–ए अकबरी' में सुंगधियों (इत्र) तथा इसकी कीमतों की लम्बी फेहरिस्त दी गयी है। प्राचीन काल से ही लोगों को कई प्रकार के इत्र की जानकारी थी। स्मृतियों के अनुसार लोग समारोह, त्यौहार आदि में सुंगधियों का प्रयोग करते थे। मध्यकाल में तुर्को के आगमन के बाद इसका प्रलचन और बढ़ा। अन्य सुगंधियों में चंदन व केवड़ा आदि का भी प्रयोग किया जाता था। बाल काले करने के लिए वस्मा और खिजाब, नील तथा अन्य तत्वों को मिलाकर बनाया जाता था। साबुन, पाउडर, क्रीम जैसी प्रसाधन

समाग्रियो के रूप मे घासुल, त्रिफला, उबटन और चदन चूर्ण का इस्तेमाल होता था। स्त्रियॉ प्रसाधनो द्वारा सोलह श्रृगार करती थी जिसमें स्नान, तेल लगाना, बाल गूँथना, रत्नों से फूलों से वेणी श्रृगार मोतियो से सजाकर बिंदी लगाना काजल लगाना हाथ पैर के नाखून रगना, पान खाना तथा स्वय को फूलमालाओं तथा कर्णफूल, हाट करधनी आदि उत्तम आभूषणों से सजाना आदि मुख्य है। राजतरंगिनी में जोनराज ने भी स्त्रियो के श्रृंगार की चर्चा की है। उसने लिखा है कि महिलाए आलता लगाती थीं। हिन्दू महिलाए अपने केश विभिन्न प्रकार से गूंथ कर उसमें सोने–चांदी के कांटे लगती थी। हिन्दू स्त्रियां सिर पर टीका लगाने व मांग भरने को शुभ मानती थी। आंखों मे काजल लगाया जाता था। उच्चवर्ग की स्त्रियॉ दंतमध्य को लाल करने के लिए मिस्सी तथा पलको को रगने के लिए सुरमा का इस्तेमाल करती थी हाथ–पांव को रंगने के लिए 'दिना' का इस्तेमाल होता था। यह नाखून रंगने के लिए भी काम आता था। मुंह पर लगाने के लिए गलगुना और गाजा (लाल) रग के प्रयोग का उल्लेख है। काठ, धातु और सींग की बनी कंधिया प्रयोग में लायी जाती थीं।

आभूषण

मध्ययुग में गहनों का प्रलचन बहुत अधिक था। स्त्रियां भारी गहने धारण करने के लिए लालायित रहती थी। वे अपने शरीर के प्रत्येक अंग को विभिन्न प्रकार के गहनों से ढक लिया करती थी। उस समय तक जेवरों के मामले मे समाज बहुत उन्नत था और गहनों की भिन्न–भिन्न प्रकार कलाकारी अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त थी। गहनों में चाक, मांग, कतबिलादर

(माग–टीका) सेकर और बिदुली सिर और ललाट पर धारण किये जाने वाले जेवर थे। कर्णफूल, पीपल, पत्ती, मोर, भावर, बाली व झुमके आदि कानो मे पहने जाने वाले गहने थे। नाक मे पहनने वाले गहनों की शुरूआत मुसलमानो ने की थी, जिनमे नथ और बेसर का प्रचलन शुरू हुआ। लौंग के रूप मे नाक के बाये भाग मे हीरा या जवाहिरात पहना जाता था। गले का हार सोना, मोती या अन्य कीमती पत्थरों का बना होता था, जिसमें सोने के दानों से युक्त पाच या सात लडियां (पचलडी या सतलडी) होती थी। हाथ के ऊपरी भाग मे बाजूबंद या तोडे पहने जाते थे गजरा, कंगन, (स्वर्ण आदि) कलाई के आभूषण थे, शेष कलाई चूडी से (कांच) भरी होती थी। क्षुद्र '[illegible]' और कटि–मेखला सोने की पेटी के रूप मे धारण किये जाने वाले जेवर थे। ऊंगलियों में अंगूठियां पहनी जाती थी। पायल पांव का गहना था इसके अतिरिक्त घुघरू भी पांव में पहने जाते थे। आभूषण के रूप में पैरो के अग्रभाग में, बिछुआ तथा आंवट धारण किये जाते थे। ये सभी आभूषण स्वर्ण, हीरे, जवाहरत व कीमती पत्थरों के होते थे।

पुरूषों के आभूषण

मुसलमान पुरूष आभूषणों में ताबीज व कवच पहना करते थे। हिन्दू पुरूष (उच्च वर्ग के) मणिमुक्ता सज्जित मुकुट धारण करते थे। राजपूत हाथों में आभूषण धारण करते थे। हिन्दू कानों में बाली तथा ऊगलियो में अंगूठियां धारण करते थे। सुल्तान कीमती पत्थरों तथा माणिक, हाथीदांत निर्मित आभूषण धारण करते थे। अबुल फजल ने पुरूष सजावट का विवरण इस प्रकार दिया है 'उचित रूप मे रखी गयी दाढी' साफ व धुला हुआ शरीर,

ललाट पर तिलक, शरीर पर सुगधित तेल तथा इत्र लगा हुआ, कानों मे स्वर्णबाली, उचित पोशाक (काबा) जिसकी गाठ बाईं ओर से हो, हाथ में म्यान डाली हुयी तलवार, कमर मे बंधी कटार, ऊगलियो मे अगूठी पैरो में जूते तथा मुह मे पान की गिल्लौरी। औरगजेब को छोडकर सभी मुगलबादशाह महत्वपूर्ण अवसरो पर अपने को कीमती जवाहरातो से सजा कर प्रस्तुत होते थे। उच्च वर्ग हिन्दू समारोहादि के अवसर पर रेशमी वस्त्रो के साथ गले में सोने व मोतियो की माला भी धारण करते थे।

सुनार सदैव गहने गढने मे व्यस्त रहते थे। उत्तर भारत में हीरे जवाहरत के गहने अधिक कुशलता से बनते थे। सोने और चांदी के काम में गुजराती हिन्दू अपनी कुशलता के लिए मशहूर थे। वे लोग अपने आदमियों को बहुमूल्य रत्नो की खरीद के लिए गोलकुण्डा तथा सुदूर स्थान पेरू तक भेजा करते थे। एक चतुर कारीगर की फीस 64 दाम प्रति तोला थी। निष्कर्ष ये कि उस समय स्त्री व पुरूष समान रूप से आभूषणों के शौकीन थे, वे विभिन्न प्रकार के जेवरों से स्वयं को सजाया करते थे।

खान–पान

साधारणत· हिन्दुओं मुसलमानों का दैनिक भोजन एक प्रकार का ही था। किन्तु मासाहारी भोजन जो मुसलमानो का प्रिय था, भावनात्मक आधार पर मध्य और दक्षिणी भारत के हिन्दुओ के द्वारा घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। विदेशी यात्रियों का कथन था कि हिन्दू मांसाहार की कम जानकारी रखते हैं तथा वे वैसा भोजन नहीं करते जिसमें रक्त हो। जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, वैश्य तथा तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात और मध्य भारत की

कुछ अन्य जातियो पर ही लागू होता है। क्योकि स्मृतियो में विहित व निषिद्ध भोजन के प्रकार का वर्णन है। मासाहार को स्मृतियों मे कुछ जगह खाद्य भोजन का स्थान दिया गया है। उनके अनुसार सम्मानित अतिथियों के सम्मान मे भोज का आयोजन है तो ब्राह्मण वहा पर निर्मित मासाहार भोजन का प्रयोग कर सकते है।[1] एक अन्य स्मृति के अनुसार ब्राह्मण इस प्रकार के समारोह मे सामिष भोजन ग्रहण तो कर सकते है, परन्तु प्रायश्चित के बाद।[2] पंजाब, बंगाल और काश्मीर में ब्राम्हण भी मांस, मछली खाते थे। आर्थिक परिस्थितियों के कारण हिन्दुओं का बडा समुदाय निराभिष भोजी था।

प्राय· मध्ययुगीन साधारण व्यक्ति अन्न, दूध से बनी वस्तुओं का उपयोग करते थे इसके अतिरिक्त वो लोग भोजन में फल, सब्जी, मांस व विभिन्न प्रकार के पकवान ग्रहण करते थे। सूखे मेवे में नारियल, राजतरंगिणी में कमल गट्टा के प्रयोग का वर्णन मिलता है, इससे ज्ञात होता है कि [illegible] इस फल की जानकारी रखते थे।[3] खजूर मखाना, कमल गट्टा, अखरोट, पिस्ता आदि होते थे। जल को ठण्डा करने के लिए बर्फ का प्रयोग होता था। कश्मीर में दूध की प्रचुरता थी, लोग इसका सेवन खूब करते थे। दूध के बहुतायत का वर्णन जोनराज ने किया है। उसने लिखा है कि तत्कालीन युग में गोपालन का कार्य प्रमुख था और लोग अपने पशुओं की सेवा उत्तम प्रकार से करते थे जिससे उन्हे अत्याधिक मात्रा में दूध प्राप्त होता था। जोन राज ने अपने समय के खेतों की समुचित दशा का वर्णन

1.मदन पारिजात (338)

2 गृहस्थ रत्नाकर (380–81)

3 तर्योशक्तयोर्जे तुमुपपत्तिं [illegible]।
श्रृंगॉटानि परीक्षार्थं गोरग्रे व्यकिरन्नृपः:।

किया है। तत्कालीन जनसाधारण विभिन्न प्रकार के अनाज का इस्तेमाल अपने भोजन मे किया करते थे। उच्च वर्ग शिकार करते थे और शिकार से प्राप्त पशुओ का सेवन भोजन में करते थे। मास व सुरा उच्च वर्ग का, शासक वर्ग का भोजन था। फल का सेवन भी भोजन का अग था। मुसलमान रईस उत्तम भोजन के शौकीन थे बलबन के समय मे मनपंसद भोज्य पदार्थों मे मांसाहार का वर्णन है। प्रसिद्ध प्रेमाख्यान 'पद्मावत' के लेखक मलिक मोहम्मद जायसी ने खिलजी के समय सामिष भोजन का विवरण इस प्रकार दिया है, कि इनमे कबूतर, हिरण, बारहसिंगा, वनमृग, बटेर, सरियल, सारस आदि के मास से तैयार लजीज भोजन होते थे। उच्च वर्ग के लोग अपने भोजन मे गेंहू का आटा चावल तथा उबली हुयी सब्जियों का इस्तेमाल करते थे। पूडी व लूची भी उत्तरप्रदेश, बिहार, उडीसा में विशेष लोकप्रिय थी।

निराभिष भोजी होनेके कारण हिन्दू प्राय: दाल दही, मक्खन, दूध तेल आदि से बने व्यंजनों को अधिक पंसद करते थे। वे चावल के साथ बदाम, किशमिश आदि [illegible] मीठा पुलाव बनाते थे, जिसका प्रचलन विशेष समारोह में होता था अबुल फजल ने 'आइन ए अकबरी' में तत्कालीन सामिष व निरामिष व्यंजनो का विवरण दिया है। मिष्ठान में हलुआ, सिंवई तथा शक्कर मिश्रित फालूदा का प्रचलन था। रईसों के भोजन में शामिल किये जाने वाले कई प्रकार के व्यंजनों का परिचय 'असफखां' द्वारा, 'सर टायस' को दिये गये भोज तथा अहमदाबाद के गर्वनरो द्वारा 'मनडेस्ली' को दिये गये भोज जिनमें पचासों प्रकार के सामिष व निरामिश व्यंजन शामिल थे, मध्य युग मे मिलता है। बंगाली कवि मुकुंदराम के द्वारा आलीशान भोज तथा सुस्वादु

निरामिष व्यजनो का वर्णन यह प्रमाणित करता है कि उच्च वर्ग के हिन्दु मे यह सब काफी प्रिय था तथा यह भी प्रमाणित होता है कि हिन्दू निरामिष भोजन का प्रयोग अधिक करते थे। जनसाधारण हिन्दू व मुसलमान दोनों उत्तम पदार्थो पर अधिक व्यय करने की स्थिति मे नही थे अत वे साधारण भोजन से ही सन्तोष कर लेते थे। खिचडी इस वर्ग का प्रिय भोजन होता था जो दाल चावल को मिलाकर पकाया जाता था। दक्षिण मे लोगों का मुख्य भोजन चावल था, गुजराती लोग, चावल व दही पंसद करते थे। जोन राज ने काश्मीरियों के भोजन के सम्बन्ध मे उल्लेख करते हुए उबले चावल तथा नमकीन सब्जियो की प्रमुखता बतायी है जिसमें करम (एक प्रकार का साग) के पत्ते भी शामिल होते थे। उत्तर भारत के लोग दैनिक भोजन में गेहू, ज्वार बाजरा की रोटियों का सेवन करते थे। मध्य वर्गीय निम्नश्रेणी के लोग प्राय दिन में तीन बार भोजन करते थे। गरीब लोग भी अपने दो बार के भोजन के मध्य जलपान के रूप चने तथा भुने अनाज का इस्तेमाल करते थे।

साधारण लोग मिट्टी के बर्तनों का, पत्तों से बने पत्तल को ही थाली के समान प्रयोग करते थे। राजाओं या धनी व्यक्तियों के यहा भोजन सोने चांदी के बर्तनो में रखकर लाया जाता था। मुसलमानों के रसोई में हिन्दुओं जैसी स्वच्छता नहीं रहती थी, वे सूअर का मास छोड़कर कभी–कभी कुछ भी पका लेते थे। जमीन पर दस्तरखान बिछा कर उस पर खाना परोस दिया जाता था और पूरा परिवार एक साथ बैठ कर भोजन करता था, परन्तु हिन्दुओं में ऐसा नहीं था, पहले पुरूष वर्ग भोजन करते थे उनका भोजन पूर्ण हो जाने पर ही स्त्रियॉ भोजन करती थीं। 'अबुल फजल' के 'आइने–ए–अकबरी'

विधि और विषाक्त भोजन से बचाव के तरीको का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है।

सुरा एवं मादक द्रव्य

राजतरगिणी मे भी सुरा के प्रयोग का वर्णन है। उस समय मधपान शासक वर्ग मे बहुत लोकप्रिय था।[1] स्मृतियों के अनुसार मध्य युग मे सुरा तीन प्रकार से प्रयोग मे लायी जाती थी। पयस्ती–जो चावल से बनता था। गौडी– जो चीनी के गाढे चाश्नी से तैयार होता था। माधवी– ये फूलो के रस या शहद द्वारा प्राप्त होता था।[2] ये सभी प्रकार ब्राह्मणों के लिए प्रतिबन्धित थे। अन्तिम दो का सेवन क्षत्रिय व वैश्य कर सकते थे और शूद्रो के लिए किसी भी प्रकार के सुरा का निषेध नहीं था। पराशर माधव ने तो मद्य के ग्यारह प्रकार बताये है।[3] उसमे ब्राहमण पर मद्यपान के लिये रोक लगायी गयी है और शेष जातियो के पीने पर कोई रोक नहीं है। हमारी स्मृतियों में स्त्रियों के सुरापान पर भी रोक लगाने की बात कही गयी है। प्राचीन काल में तो महिलायें भी सुरापान करती थी परन्तु मध्य युग मे इस पर प्रतिबन्ध लगाया गया और औरतों के मद्यपान को निषिद्ध कर दिया गया।[4] मदन पारिजात व गृहस्थ रत्नाकर के अनुसार प्रथम तीन जातियों की स्त्रियों को सुरापान नही करना चाहिए शुद्र स्त्रियों को मद्यपान के रोक का कोई

---

1. योगिनी नायिका दूरात् परिज्ञाय नृपात्मजम्।
   साशिषं शीधुचषकं प्रहिणोन्मन्त्रितं ततः।।
   जोनराजकृत राजतरंगिणी (श्लोक–348)
2 गृहस्थरत्नाकर (393–95)
3 पराशरमाधव (III 409–13)

विधान नही है। [1]

मध्य कालीन समय मे प्रयोग की जाने वाली मुख्य मादक वस्तुओ मे शराब, अफीम, भाग और तबाकू उल्लेखनीय है। पान, चाय और कहवा को भी इसी श्रेणी में रखा जाता था। जन साधारण सामान्यत मादक द्रव्यो के सेवन को बुरा मानता था, इसे दुर्गुण तथा पाप भी समझा जाता था। अलाउद्दीन खिलजी जैसे सुल्तानो तथा सभी मुगल बादशाहों ने मद्य निषेध का आदेश दिया था।

देशी मद्य की मशहूर किस्मों में 'ताडी', 'नीरा', 'महुआ', 'खेरा', 'बद्यवार' और 'जागर' का नाम था। कुछ उत्तम किस्म की शराब विशेषकर पुर्तगाल व फारस से मंगाई जाती थी। अफीम का उपयोग बहुत से लोगों द्वारा विशेषकर मुसलमानों व राजपूतों द्वारा किया जाता था। युद्ध के समय राजपूत अफीम की मात्रा दुगुनी कर देते थे जिससे इनमे लडने की क्षमता अधिक आ जाए। पुर्तगालियो द्वारा 15वी शताब्दी के अत मे तबाकू भारत लाया गया, इसके बाद ही तंबाकू भारत में जन सामान्य मे लोकप्रिय हो गया। कुछ ही वर्षो मे तंबाकू पीने की आदत लोगों में इतनी प्रचलित हो गई कि इसके नुकसान देह प्रभाव से लोगों को बचानेके लिए बादशाह को निषेद्याज्ञा जारी करना पडा, परंतु इस कानून का जनता पर कोई असर नहीं हुआ लोगो की तबाकू की आदत पूर्ववत् बनी रही जिसका निरन्तर प्रयोग आज के समाज में भी जारी है। इटालवी यात्री 'मानुषी' ने लिखा है कि अकेले दिल्ली मे तंबाकू पर लगाई गई चुंगी से प्रतिदिन 5000 रुपए प्राप्त होते थे।

उन दिनों चाय और कहवा का इस्तेमाल पेय के रूप मे नहीं

बल्कि नशे की तरह किया जाता था। इसका प्रयोग लोग बडी सख्या मे करते थे, विशेषकर कारोमडल तट क्षेत्र मे यह अधिक प्रचलित था।

रीति–रिवाज

तत्कालीन साहित्य मे उपलब्ध छुटपुट प्रमाणो से ऐसा विदित होता है कि उस समय भी हिन्दू व मुसलमान दोनो समुदाय अपने रीति रिवाजो का पालन करते थे जैसे आज करते है। हिन्दूधर्म में व्यवस्थापित सोलह संस्कारों मे केवल छ संस्कार नामशः जातकर्म, नामकरण, चूडाकरण उपनयन और विवाह तथा कुछ अन्य संस्कारो का पालन अधिकाश हिन्दू करते थे।

जन्म संस्कार व अन्य संस्कार

'अबुल फजल' ने जन्म संस्कार के बारे में विवरण देते हुए लिखा है। कि इसमे घृत और मधु मिलाकर सोने के छल्ले से शिशु के मुंह में डाला जाता था। बंगाल में महिलाए नवजात शिशु की दीर्घायु की कामना करती हुई उस पर हरित तृण तथा चावल न्यौछावर करती थी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रामचरित मानस' में तुलसीदास ने शिशु जन्म के तुरंब बाद 'मुखश्राद्ध' का किया जाना बताया है। जिसमें ब्राहमणों को स्वर्ण, गाय, थाल और गहने दान स्वरूप दिए जाते थे। शिशु के जन्म के बाद ही जन्मकुंडली बनाये जाने की प्रथा थी। चालीस दिनो की अवधि समाप्त होने पर नामकरण संस्कार होता था। बगाल में दही, दूध और हल्दी [illegible] शिशु के ललाट पर तिलक लगाने की पद्धति प्रचलित थी।

बच्चे की स्वाभाविक रुचि जानने के लिए इसी अवसर पर एक रिवाज प्रचलित था, जिसके अनुसार बच्चे के सामने धान, भात, मिट्टी, सोना, चॉदी आदि कई वस्तुए रख दी जाती थी और यह देखा जाता था कि वह किसे हाथ लगाता है। इससे बच्चे के चरित्र का, रुचि का आकलन किया जाता था। यह रिवाज बंगाल व उत्तर भारत में प्रचलित था। अन्नप्राशन सस्कार (बच्चे को पहली बार अन्न से निर्मित ठोस आहार खिलाने की विधि) बालक के छ मास का हो जाने पर किया जाता था। 'कविसू[illegible]' के अनुसार इस सस्कार मे खीर, मधु और घी बालक के सामने परोसा जाता था जिसे उसका पिता धार्मिक अनुष्ठान के बाद खिलाता था। मुंडनसंस्कार तीन वर्ष के पूर्व नही किया जाता था। इसमें एक चोटी छोडकर सिर के बाल काट दिए जाते थे। उसी दिन बच्चे के कान भी छेद दिए जाते थे, जिसे कनछेदन सस्कार कहते थे। परन्तु यह सभी जातियों में प्रचलित नहीं था। आठ वर्ष की उम्र मे जनेऊ या उपनयन संस्कार बहुत से ब्राह्मणों की उपस्थिति में किया जाता था। जनेऊ में तीन सूत होते थे, जिनमे प्रत्येक सूत्र तीन भागों को मिलाकर बनाया जाता था। ऐसा जनेऊ बालक के बाएं कंधे पर लटकाया जाता था, जिसका दूसरा छोर दाएं हाथ में लपेट दिया जाता था। इसके तीन सूत त्रिदेव– ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतीक हैं तथा सफेद रंग पवित्रता का प्रतीक है। पवित्र जनेऊ को धारण करने के बाद बालक विद्याध्ययन प्रारंभ करता था। विद्याध्ययन प्रारंभ करने से पहले गुरु उसे मंत्र (गायत्री) देते थे। इस अवसर पर ब्राहमणों व गरीबों को दान दिया जाता था। छात्र जब अध्ययन समाप्त कर के घर आता था तो [illegible]र्तन संस्कार किया जाता था।

मुसलमानो मे सतान के रूप पुत्र प्राप्ति की प्रबल इच्छा रहती थी। अमीर परिवारो मे पुत्र जन्म के समय के मनाये जाने वाले उल्लासपूर्ण समारोहो का विवरण इतालवी यात्री मानुसी ने दिया है। यह प्रथा थी कि जन्म के तुरत बाद शिशु के मुख मे शहद व बाद मे दूध दिया जाता था 'अजान' या 'मुसलमानी' प्रार्थना के स्वर शिशु के कानो में डाले जाते थे। जन्म कुडली बनाने की हिन्दू प्रथा मुसलमानो ने भी अपनाई। शिशु के जन्म के दिन ही उसका नामकरण संस्कार होता था तथा दादा द्वारा चुना हुआ नाम रखने की प्रथा थी। मानुसी ने छठे दिन होने छठी [illegible] का वर्णन भी किया है। रिवाज था कि नहाने के बाद बालक को किसी संत द्वारा पहने गए पुराने कपडे की कमीज पहनाई जाती थी। अकबर का पहला कपडा संत सैयद अली शिराजी की पोशाक से तैयार किया गया था। सातवें दिन 'अकिकाह' अवसर पर लडके के लिए दो तथा लडकी के लिए एक बकरे काटे जाने की प्रथा थी। अबुल फजल ने मुगलों के द्वारा अपनाए गए तुर्की रिवाजों का उल्लेख किया हैं, जब बच्चा चलने लगता था तो यह रिवाज था कि बाबा या पिता अपनी पगडी से बच्चों को धक्का मार कर गिरा दे। बालक के चार वर्ष और चार माह का हो जाने के पश्चात् 'विसमिल्लाह' या 'मकतब' नामक धार्मिक समारोह किया जाता था, इस समारोह के अवसर पर बालक की शिक्षा प्रारम्भ होती थी। 'खतना' या 'सुन्नत' समारोह भी बहुत धूमधाम से मनाया जाता था। इसके बाद उसका विवाह संस्कार होता था। इसका उल्लेख विवाह नामक संस्कार के अंतर्गत इसी ग्रन्थ में वर्णित हैं।

वर वधू का चुनाव मूलतः माता– पिता द्वारा किया जाता था।

पाने का अधिकार नही था। इस मामले मे उच्च घराने की लडकियां अपवाद स्वरूप थी। उन्हे इस मामले मे पूरा अधिकार प्राप्त था, और तो और कभी–कभी प्रेम विवाह भी करती थी। [1]

विवाह–संस्कार

हिन्दू व मुसलमान दोनो के विवाह समारोह आजकल के ही तरह थे या हम यह कह सकते हैं कि मध्ययुग से चली आ रही विवाह परम्परा आज भी कायम है। जब विवाह संबंध के लिए दोनो पक्ष राजी हो जाते थे तो ज्योतिषियों द्वारा निश्चित किसी शुभ तिथि मे सगाई की रस्म होती थी। इसमे वर के ललाट पर तिलक लगा कर उसे भेंट आदि दिया जाता था। इसे वररक्षा भी कहते थे।

हालाकि हिन्दुओं मे विवाह के धार्मिक कृत्यो में जाति समूह और प्रात के अनुसार काफी अंतर था किन्तु धर्मिक संस्कारों का सामान्य स्वरूप सर्वत्र एक जैसा था। जैसा कि 'अबुल फजल' ने लिखा है कि यह बहुत हद तक वैदिक कालीन पद्धति की तरह ही था। 'र[illegible] मानस', 'सूरसागर' और 'पद्मावत' जैसे स[illegible] साहित्यिक ग्रंथों मे इन समारोहों का वर्णन मिलता है। दूल्हे के साथ सजी बारात दुल्हन के घर जाती थी। दूल्हा– दुल्हन के द्वारा एक दूसरे को जयमाल पहनाया जाना, अग्नि कुड मे आहुति देना, विवाहित युगल का अग्निकुंड के चारों तरफ सात फेरे लगाना (सप्तपदी) कन्यादान अर्थात् पिता द्वारा दूल्हे को कन्या सौंपना तथा पति पत्नी के रूप में

1.सम श्रीकोटया देव्या मूर्तयेव जयमिश्रा श्रिय ।
तदोदयनदेवं त कश्मीरक्ष्मामलम्भयत् ।।

वापस लडकी का पति के घर आना विवाह के महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य थे। ये धार्मिक अनुष्ठान पुरोहित के द्वारा वेद मन्त्रोच्चार से पूर्ण होते थे, जिससे वर–वधू को ईश्वर का आशीर्वाद मिलता था। वर तथा उसके संबधियो को वधू का पिता नकद, स्वर्ण तथा वस्त्र के रूप मे उपहार देता था।

मुसलमानो में विवाह संस्कार का प्रारम्भ 'सचाक' (वधू के घर, वर पक्ष द्वारा चार मूल्यवान उपहार और मेंहदी) भेजने से होता था। विवाह का अनुष्ठान 'काजी' द्वारा प्रतिपादित होता था। प्रार्थना तथा मेहर की घोषणा से शादी की रस्म पूरी होती थी। इसके पश्चात् दूल्हा व दुल्हन के संबंधी उन्हे मुबारकबाद देते थे। विवाह समारोह वर–वधू के लिए खुदा से दुआ मांगने तथा कुरान शरीफ के पाठ से पूरा होता था।

भारत में विवाहोत्सव सदैव खर्चीला समारोह रहा है। कई विदेशी पर्यटकों ने इस अवसर पर होने वाले धूमधाम, मूल्यवान उपहारों की भेंट आतिशबाजी, संगीत, नृत्य आदि का जिक्र किया है। एक सामान्य साधन वाले हिन्दू को भी विवाह मे चार पांच हजार रुपये खर्च करने पडते थे। किन्तु साधन संपन्न व्यक्ति को चालीस से पचास हजार या इससे अधिक तक खर्च करने पड जाते थे। बंगाल के कुछ व्यापारियों को अनेक मूल्यवान उपहारो समेत लाखो रुपये तक व्यय करने पड़ते थे। इसके विपरीत कभी–कभी अपवाद स्वरूप कोई–कोई विवाह बडे सादे समारोह में भी सम्पन्न होते थे। ऐसे विवाहो मे उपहारों का कोई आदान–प्रदान भी नहीं होता था। इस प्रकार के विवाह आदर्श विवाह माने जाते थे।

मृतक सस्कार

हिन्दुओं में अतिम सस्कार का बहुत महत्त्व था क्योंकि उनके यहॉ इस लोक से परलोक को अधिक मान्यता दी जाती है। इसके मुख्य अनुष्ठान दाहसस्कार, उद्कर्म, अशोच, अस्थि संचयन, शांति कर्म और सपिण्डी कर्म आदि थे। जोनराज ने राजतरंगिणी में भी पिण्डदान कर्म उल्लेख किया है। [1] हिन्दुओ मे पिण्डदान व तर्पण का विशेष महत्व होने के कारण इन संस्कारो को विधि–विधान द्वारा किया जाता है। [2] 'अबुल फजल' ने कुछ वर्गों का उल्लेख किया है, जिनके लिए दाह सस्कार वर्जित था। धर्मशास्त्रो के अनुसार छोटे बच्चो व [illegible] के लिए समाधि (जिसमें जल समाधि की भी व्यवस्था थी)।

ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं में सामान्य धर्म विहित व्यवस्था का पालन किया जाता था जिसके अनुसार संताप अवधि में (जो जाति, उम्र संबध आदि के अनुसार एक से दस दिन या महीने तक होता था।) हजामत कार्य करना आदि वर्जित था। इसी विधि के अनुसार तीन दिन तक शोक सताप की अवधि मानी जाती थी, जिसमें भूमि पर सोने, केवल दिन मे खाने का विधान था। गहरे रग के व अच्छे वस्त्रो का परहेज रहता था। स्त्रियाँ सफेद वस्त्र धारण करती थीं। जातिभेद के अनुसार चार से दस दिन तक शोक–संचयन कार्य होता था, जिसमे अवशेष राख तथा हड्डी को एकत्र कर नदी में प्रवाहित कर दिया जाता था शोक की अवधि तेरहवे दिन समाप्त होती

---

1 स नेत्रशुक्तिमुक्ताभिर्मुक्ताभिर्वाष्पवीचिभिः।
श्रुत्वा तत्र पितुर्मुत्युं निवापांजलिमार्पयत्।।
जोनराजकृत राजतरंगिणी (श्लोक ~~380~~ 479)

थी। 'अबुल फजल' के अनुसार श्राद्ध मे मृतक की ओर से दान देने का कार्य सम्पन्न होता था, यह साधारणत. मृत्यु के एक वर्ष बाद होता था या तो लोग अपनी सुविधा व आवश्यकतानुसार तेरही सस्कार के साथ ही कर देते थे। 'आइने–अकबरी' में इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है। हिन्दुओं के अनुसार मृतकसस्कार मे किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों से मृत व्यक्ति की आत्मा को शाति व परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

शोक संबंधी मुसलमानों रस्में

हिन्दुओं के समान ही मुसलमानों के भी मृत्यु संस्कार संबंधी रिवाजों में मध्यकालीन युग में पूर्ववर्ती युग से काफी अंतर आ गया था। मृत्यु शय्या के निकट कुरान के 'यासीन अध्याय' का पाठ किया जाता था तथा मरणासन्न व्यक्ति के मुख को मक्का की ओर फेर दिया जाता था। उपलब्ध होने पर मक्का के 'जमजम कूप ' का पवित्र जल या शर्बत पिलाया जाता था जिससे शरीर से प्राण् वायु के निकलने में सुविधा हो। मुसलमान अपने शवों को हिन्दुओं की भांति जलाते नहीं थे वरन् कब्र मे गाड देते थे। जोनराज ने भी इसका वर्णन किया है।[1] मुसलमानों का मृतक सस्कार गाड़ने से होता है। गाडने पर शव मिट्टी से आच्छादित हो जाता था। चालीस दिनों तक शोक मनाया जाता था। अपने प्रिय जन की मृत्यु पर सिर मुंडवाने की हिन्दू प्रथा को मुसलमानों ने भी अपनाया। शोक–अवधि में मृतक के संबंधियों द्वारा जमीन पर सोने का रिवाज था। शोक की समाप्ति चालीसवें दिन होती थीं।

---

1 शत्रुकीर्ण शिलाराशिश्छन्नो डामरलौलकः।
यवनप्रेतसंस्कारान्न विपद्यप्यनीयत् ।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (476)

जब सभी सबधी कब्र पर जाते थे और मृतक के नाम पर गरीबो मे खाना, कपडा व पैसे बाटते थे। मृत्यु की वार्षिकी उपयुक्त रूप से मनाई जाती थी। वार्षिकी मनाने का रिवाज मुसलमानो ने हिन्दुओं से सीखा। मृतक के संबंधियो की स्थिति के अनुसार खाना तैयार होता था तथा फातिहा पढे जाने के बाद उसे गरीबो मे बांट दिया जाता था। अमीर लोग अपने सबधियों की कब्र पर खूब रोशनी करते थे। साधारण लोग मृतक के कब्र पर कुछ दीप भर जलाते थे। सतों व पीरो की कब्र या दरगाह अमीरो के द्वारा उदारतापूर्वक बनवाई जाती थी तथा वहाँ पर उनके मानने वालों दु:खी व निराश व्यक्तियो की भीड लगती थी तथा वे संत के प्रभाव से अपनी मुरादे पूरी करने की मन्नते मानते थे।

मनोरंजन के साधन

मध्यकालीन समाज मे मनोरंजन के साधनों में खेल–कूद, द्वन्द्व युद्ध शिकार चौपड, व ताश के खेल अमीरों–गरीबों दोनो में सामान्य रूप से प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त हिन्दू–मुसलमानों के विभिन्न त्यौहार और उत्सव भी मनोरंजन के साधन थे। हिन्दू, होली, दीवाली, दशहरा, शिवरात्रि बसंत जैसे अनेक त्यौहार मनाते थे और मुसलमान ईद, शब्बेबरात, नौरोज आदि मनाते थे।

जोनराज की राजतरगिणी में शिवपूजा का वर्णन है।[1] कश्मीर के जन साधारण मे शिवरात्रि का महत्त्व बहुत अधिक था और वो उस दिन

1.तुषार लिंग–पूजाभिःकृतार्थीकृत्य वासरान्।
भौट्टदेशान्निजं देशमागच्छद्वीतभीर्नृप.।
जोनराजकृत राजतरगिणी (श्लोक–240)

को बहुत पवित्र मानते थे। ये त्यौहार पूरे देश मे एक समय पर मनाये जाते थे, किन्तु इनके मनाये जाने के ढग मे भिन्नताए रहती थीं। भारत मे हिन्दूओं के और मुसलमानो के एक–दूसरे के सम्पर्क मे आने के कारण त्यौहार मनाने के ढग पर दोनो सस्कृतियो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है। ऐसे अवसरो पर सजावट, रोशनी, आतिशबाजी, जुलूस तथा सोने–चॉदी और जवाहरातो के प्रदर्शन होते थे।

होली हिन्दू के प्रमुख त्यौहारो मे से एक है चूंकि भारत एक कृषि प्रधान देश है अतः यहॉ के सभी त्यौहार प्रमुख फसलों के तैयार होने के समय में खुशी के प्रतीक स्वरूप मनाये जाते थे। होली का त्यौहार गेहूँ के फसल के तैयार होने की प्रसन्नता में मनाया जाता था। इसमे लोग एक–दूसरे पर रंग डालते थे और आग जलाकर उसके चारो तरफ गाते–बजाते थे। होली–रंगों भरा मस्ती का त्यौहार था। यह फागुन के महीने में मनाया जाता था। लोग अपनी वर्षों पुरानी दुश्मनी को भूलकर एक–दूसरे के घर जाते थे और अबीर लगाकर गले मिलते थे। दूसरा त्यौहार रक्षा बंधन था । यह सावन मास की पूर्णिमा को मनाया जाता था। इसमें बहने भाइयों के हाथ में सूत व रेशम का धागा बांधती थी और माथे पर टीका लगा कर मंगल कामना करती थी। राखी बधवाने वाले भाई का कर्त्तव्य बहन की मर्यादा की रक्षा करना होता था। पुरोहित राजा या अपने यजमानों की मंगल कामना के लिए उनकी दाई कलाई मे राखी बांधते थे।

विजयदशमी जो दशहरा के नाम से अधिक प्रसिद्ध था, क्षत्रियो के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण त्यौहार था, यह क्वार के मास में भगवान राम

ही यह पूरे देश मे मनाया जाता था तथा नाटक मडलियॉ राम–लीला प्रस्तुत किया करती थी। युद्ध–अभियान के लिए यह दिन शुभ माना जाता था। लोग उसी दिन देवी दुर्गा की पूजा करते थे। बंगाल मे यह प्रमुख त्यौहार के रूप मे मनाया जाता था। वहॉ यह दुर्गापूजा के नाम से मशहूर था। लोग सामूहिक रूप से देवी दुर्गा की प्रतिमा स्थापित करते थे व पूजन–अर्चन करते थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उस दिन लोग वाणिज्य व्यवसाय तथा पेशे मे प्रयुक्त होने वाले उपकरणो की पूजा करते थे। राजपूत और क्षत्रिय अपने घरों को सजाते थे। किसान व कारीगर अपने–अपने औजारों को साफ किया करते थे और उसकी पूजा करते थे।

दीवाली आज की तरह ही मनाई जाती थी। धान की फसल तैयार होने के बाद ही इस त्यौहार का समय होता था, अत इसमें धान से तैयार वस्तुएँ लाई, लावा, चिउरा आदि पूजा में इस्तेमाल किया जाता था। इस त्यौहार के आयोजन मे लोग अपने धरों की सफाई–पुताई कराते थे, उसके पश्चात् गणेश–लक्ष्मी की पूजा करते थे। इस पूजा में लक्ष्मी की पूजा का विशेष महत्त्व होता है, लोग अपने घर को धन–धान्य व खुशियों से पूर्ण करने के लिए बडे विधि–विधान से लक्ष्मी पूजन करते थे।प्रसाद के रूप मे धान से निर्मित वस्तु व बताशे आदि चढाते थे। व्यापारी वर्ग के लिए इस त्यौहार का विशेष महत्त्व होता था, वे अपने साल भर का खाता इसी रोज प्रारम्भ करते थे, वो इस दिन नई बही खाते की शुरुआत करते थे। इस त्यौहार को उल्लासपूर्ण और मनोरंजक बनाने के लिए रोशनी का इंतजाम होता था, आतिशबाजी छोडी जाती थी व उपहारों का आदान प्रदान होता था।

इस त्यौहार की एक कुप्रथा भी थी, इस दिन लोग अपना भाग्य आजमाने के लिए जुआ खेलते थे व शराब पीते थे। इसके बाद भइया–दूज का त्यौहार होता था इसमें बहने भाई की लम्बी आयु की कामना करते हुए उपवास रखती थी और पूजा के पश्चात् भाई के माथे पर टीका लगाती थी। भाई बहन को उपहारस्वरूप स्वर्ण–चांदी या रुपये देते थे। कश्मीर में उस समय विविध यात्राएँ प्रचलित थी जिसमें अमरनाथ की यात्रा प्रमुख थी जो आज भी प्रचलित है।[1] शिव रात्रि व वसंतोत्सव आदि भी पूरी श्रद्धा व उत्साह से मनाया जाता था। शिवरात्रि का व्रत अपने पाप को समाप्त करने तथा इच्छाओ की पूर्ति के लिए रखा जाता था। अबुल–फजल ने आइन–ए–अकबरी में रामनवमी व 'कृष्ण जन्माष्टमी' के नाम से दो अन्य महत्वपूर्ण हिन्दू त्यौहारो का उल्लेख किया है ये क्रमशः भगवान राम तथा कृष्ण की जयंतियां हैं।

'मुहर्रम', 'ईद मिलाद,' 'शब–ए–बारात', 'ईद–उल–फितर', और 'ईद–उल–जुहा' कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण मुसलमानी पर्व थे, जिन्हें मध्यकालीन युग में पूरी श्रद्धा से मनाया जाता था। मुहर्रम के पहले दस दिनो को सुन्नी मुसलमान सामान्य रूप में व शिया विशेष रूप से शोक दिवस जैसा मनाते थे। इस अवसर पर मुसलमानी महीना 'रबी–उल–आइवाल' के बारहवें दिन जश्न मनाते थे। सैय्यदों व संतों की सभा बुलाई जाती थी, कुरान पढा जाता था व गरीबों में खैरात बांटा जाता था। सुल्तान व शासक भी इस पर्व में विशेष रुचि लेते थे और बडी मात्रा में खैरात बांटते थे।

मुसलमानी महीना सावन के चौदहवे दिन को पड़ने वाला त्यौहार शब–ए–बरात था। ऐसी मान्यता थी कि उस दिन पैगम्बर स्वर्ग में दाखिल हुए

---
1. जोनराज कृत राजतरंगिणी (श्लोक–654)

थे। यह बहुत लोकप्रिय त्यौहार था तथा धर्मभीरु मुसलमान पूरी रात जागकर प्रार्थना किया करते थे। सामान्य जन उस दिन खुशियॉ मनाते थे, घर मे, शाही–इमारतो में राजमहलो मे, बागों तथा बावलियो आदि सब जगहों पर रोशनी की जाती थी। लोग अपने मृतको की आत्मा की शांति के लिए दान देते थे व उनकी कब्र पर जाकर फातिहा पढते थे। आपस मे मिठाई का आदान–प्रदान करते थे। धूमधाम से मनाया जाने वाले इस पर्व की विशेषता, घरों व मस्जिदों के दिये जलाना था। यह त्यौहार चार दिनों तक मनाया जाता था। ये हिन्दुओं के दीवाली के त्यौहार के समान ही था।

ईद–उल–फितर तथा ईद–उल–जुहा, दोनो ईद मुसलमान के लिए बडे महत्वपूर्ण पूर्व थे। ईद–उल–फितर रमजान की लम्बी उपवास अवधि के बाद आता था। मित्र तथा संबंधी एक–दूसरे को मुबारकवाद देकर मिठाईयॉ बांटते थे। उस दिन अपने से बडों के पास जाकर ईद–मुबारक कहने का रिवाज था। बादशाह इस अवसर पर अपने दरबारियों को उपहार देते थे और कुछ बादशाह तो इस अवसर पर कैदियों को रिहा करते थे। इस दिन सभी मुसलमान नमाज अदा करते थे व एक–दूसरे के गले मिलते थे, यह भाईचारे का त्यौहार था। समकालीन साहित्य में उस समय प्रचलित मुसलमानों के अन्य त्यौहारों में "वारा–व–फात", आखिरी चहर व शंबा आदि मुख्य थे। नौरोज, मीना बाजार और "आबे–पशन" कुछ ऐसे पर्व थे जिन्हें राष्ट्रीय पर्व का दर्जा दिया गया था। मध्यकालीन समय में नौरोज अर्थात् फारसी नववर्ष का त्यौहार भी मनाया जाता था।

खेल तथा मनोरजन के अन्य साधन

मध्ययुगीन समाज में लोग तरह–तरह के खेलो से अपना मनोरजन करते थे। शतरंज, चौपड और ताश और खेल अमीर व गरीब दोनो मे समान रूप से लोकप्रिय थे। जानवरो की लडाई व अन्य खेल भी ग्रामीण क्षेत्र में प्रचलित थे। अबुल फजल ने आइने–अकबरी में ऐसे खेल का वर्णन किया है। ताश का खेल एक पुराना खेल है, जो मुसलमानो के आने के पहले से ही भारत मे खेला जाता था। शतरज मुगल सामतों का यह प्रिय खेल था। स्टोरिया दी मोगोर का लेखक मानुसी लिखता है कि सुल्तान शतरज के खेल द्वारा अपनी–अपनी योजनाओं के बनने बिगडने व हारजीत की बाते ज्ञात करते थे। कई बार बाजियाँ लगती थीं और अतर्राष्ट्रीय मुकाबले होते थे।

चौपड

चौपड एक प्राचीन खेल है आदि काल से इसके द्वारा लोग मनोरजन करते थे। यह मध्ययुगीन समय में भी लोगो के बीच प्रचलित रहा। राजपूत रानियों के बीच यह खेल काफी लोकप्रिय था, समय बिताने के लिए रानियाँ आपस मे चौपड खेलती थी।

मैदानी खेल

घर के बाहर मैदानो में खेले जाने वाले खेलों मे शिकार, जानवरों की लडाई और चौगान कुछ सुसंपन्न लोगों के खेल थे। मनोरंजन के क्षेत्र में जादूगरी तथा कौतुकी के खेल भी प्रचलित थे। लोग पतंगबाजी

आदि से अपना मनोरजन करते थे। रस्सियो के सहारे अपनी कलाबाजी दिखाने वाले नट अपने कौशल से दर्शको का मन बहलाया करते थे। कुछ लोग अपने साथ सिखाये हुए बदर व भालू रखते थे, जो मालिक के इशारे पर तरह–तरह के खेल दिखाया करते थे। इस जाति को मदारी कहा जाता था। कुम्मी का कलटन जैसे लोकनृत्य दक्षिण के देहातों में अधिक लोकप्रिय थे। सपेरे सापो के जहर के दांत निकाल कर बीन बजाकर इनका नाच गली–गली घूम–घूम कर दिखाते थे।

चौगान

इस खेल को आजकल पोलो कहते हैं इसे उस समय भी आज की तरह ही खेला जाता था। सुल्तान कुतुबद्दीन ऐबक (1206–1211) इस खेल का बहुत शैकीन था, चौगान खेलते हुए ही वह अपने घोडे से गिरकर मरा था। राजपूतो की तरह तुर्क व अफगान भी इस खेल में बहुत रुचि लिया करते थे। हाकी भी उस समय का लोकप्रिय खेल था। समकालीन अभिलेखों मे हाकी खेल का भी जिक्र प्राप्त होता है। बंगला साहित्य मे "धोफरी" खेलने का उल्लेख है। वस्तुतः यही हाकी का खेल था, जो ग्रामीण क्षेत्रो गेंद तथा स्टिक से खेला जाता था। अन्य खेलो में गेरू नाम से खेला जाने वाला एक खेल बंगाल के बच्चों में बहुत प्रचलित था। इसमे लडकों की दो टोलियॉ होती थीं, एक टोली की ओर से गेद फेंकी जाती थी तथा दूसरी टोली उसे पकडने की चेष्टा करती थी। सल्तनत काल मे कुश्ती तथा मुक्केबाजी भी मन बहलाव के मुख्य साधन थे। विजय नगर मे स्त्रियॉ भी कुश्ती मे भाग लेती थी। उच्च वर्गों में घुडसवारी भी मनोरंजन के साधन हुआ करते थे। इसके

लिए विशेष प्रकार के अरबी घोडे यमन तथा ओमन से मगाएँ जाते थे। घुडसवारी मे राजपूत व गुजराती एक–दूसरे के कुशल प्रतियोगी हुआ करते थे। रणकौशल सबधी खेल, तीरदाजी तलवारबाजी, भाला फेंकना, माला फेकना आदि मे भी जन सामान्य की काफी रुचि रहती थी। इसके लिए प्रतियोगिताएँ होती थीं व पुरस्कार वितरित किये जाते थे।

शिकार खेलना

शिकार खेलना मनोरंजन का उत्तम साधन माना जाता था जिसमे राजा व अमीरों के साधारण जन भी भाग लेते थे किन्तु हाथी, शेर, बाघ, जंगली भैसा आदि बनैले पशुओं का शिकार के अभियानों की तैयारी कुछ अमीर व सक्षम लोग ही किया करते थे। शेर का शिकार केवल राजा करते थे। मुगल राजाओं और सुल्तानो के लिए शिकार खेलना एक प्रिय काम था, इसमें राजपूत भी भाग लिया करते थे उन्हें बाघ, जगली सूअर और शेर मारने में बडा मजा आता था। शिकार का खेल बहुत लोकप्रिय हो गया था। पक्षियो का शिकार अमीर व गरीब दोनो का मनपसद खेल था। काश्मीर में भी तत्कालीन शासक शाहमीर (1339–1342) भी शिकार के खेल में बहुत रुचि लेता था।[1] तथा रिंचन (1320–1323) भी शिकार खेलने के लिए जाया करता था।[2] शिकार का खेल उच्च वर्ग मे ही [illegible] था खर्चीला होने के कारण यह केवल शासक वर्ग व अमीरों में ही प्रचलित था।

---

1. वने [illegible] शहमेरस्य कदाचन्।
मृगया प्रथमां दृष्टिं पश्चानिद्रा व्यलोभयत्।। (138)
2. छेदयच्छन्नतुच्छानां वैरिणामुच्छलच्छ्रियाम्।
आच्छोदनमगच्छत्स [illegible] कदाचन्।।

मछली मारना

मछली मारना कई लोगों का मनोरजन था किन्तु कुछ लोगो का पेशा भी था। सल्तनतकालीन युग में मछली फंसाने वाले जाल की जानकारी लोगो को थी, इसके लिए विशेष प्रकार के जाल सफरा या भवर जाल का इस्तेमाल किया जाता था। तत्कालीन युग मे मछली मारने का चलन इतना ज्यादा बढ गया था कि राजा को रोक लगाने के लिए निषेधाज्ञा जारी करना पडा। जैनुल आबदीन (1420—1470) ने मछलियों व पक्षियो का शिकार अनेक सरोवरों से न करने का आदेश दिया। [1]

जानवरों की लडाई

जानवरों को पकड़ कर आपस मे लड़ाना उस समय का प्रचलित मनोरंजन था। गरीब लोग कम खर्चीले व पालतू जानवरों की लडाई देखकर प्रसन्न होते थे। बादशाह व अमीर लोग अधिक खर्चीले तथा खतरनाक जानवरों की लड़ाई देखकर प्रसन्न होते थे। उच्चवर्ग व मध्यमवर्ग मे मुर्गे की लडाई का खेल बहुत प्रचलित था। कबूतर उडाने का खेल मूलतः जन साधारण का मनोरंजन था किन्तु अमीर भी इसका मजा लेते थे। मनोरंजन के अन्य साधनों में मुशायरा (कवि सम्मेलन) जादूगरी, नाटक—तमाशे आदि उल्लेखनीय है। राजस्थान में उस समय कठपुतली का नाच भी काफी प्रसिद्ध था राजा से लेकर प्रजा तक अपना भरपूर मनोरंजन करती थी। इसके अतिरिक्त उस समय राजस्थान में पार्श्वनाथ चरित्र व हरीश चरित्र में मंचन के

---

1 निर्दिशन् यशसा शुभ्रा दिशो नृपतिरादिशत्।
अवध खगमत्स्यानामनेकेषु सर[illegible]सु सः।।

भी प्रमाण मिले हैं। गुजरात के कलाकार पूरे देश के विभिन्न भागो की यात्रा करके नाटक तथा खेल तमाशे द्वारा लोगो को मनोरंजन किया करते थे।

दास–प्रथा

उस समय समाज मे हिन्दू और मुसलमान दोनों में दास प्रथा प्रचलित थी तथा गुलाम बाजार मे बेंचे व खरीदे जाते थे। दासों के जीवन व सम्पत्ति पर उनके मालिकों का पूर्ण अधिकार होता था। मुसलमान दासों की स्थिति, हिन्दू दासों की अपेक्षा बेहतर थी। चूंकि उस समय भारत पर मुसलमान शासकों का साम्राज्य था। अतः सुल्तान स्वयं योग्य दासों को बडी संख्या में रखते थे अपनी योग्यता व गुण के कारण अनेक दासों ने राज्य मे बडे से बडा पद प्राप्त किया तथा आगे चलकर इन्हीं में से योग्य व कुशल प्रशासक बने। जिनके चलते गुलाम वश का शासन कई वर्षों तक सफलतापूर्वक चला। तत्कालीन ग्रंथकारों के अनुसार दासों की चार श्रेणियॉ थी। [1]

(क) घरेलू दास– जिन्हें घरेलू दास कार्य हेतु रखा जाता था और वो अपनी पूरी जिन्दगी अपने मालिको की सेवा में बिता देते थे। उनके बच्चे भी अपने माता पिता के मालिक की सेवा करते हुए अपनी जिन्दगी बिता देते थे।

(ख) स्मृतियों के अनुसार दासों का दूसरा प्रकार क्रीत दासो का होता था, इस प्रकार के दासों को लोग खरीदकर लाते थे और उन्हे अपने यहॉ रखतें थे, कभी कोई शक्तिशाली व समृद्ध व्यक्ति गरीब व कमजोर व्यक्तियों को अपने साथ लेकर आते व गुलामों का बाजार में जानवरों की तरह बेंच देते थे। ये मूक पशु की तरह अपने खरीददार के साथ चले जाते थे, चूकि वो उनका दाम

---

1 जानराजकृ॰ राजतरंगिणी (953)

चुकाकर लाते थे अत उनके जीवन पर उनका पूरा अधिकार होता था। वो उनका शोषण हर स्तर पर करते थे। यद्यपि हिन्दू दासों का क्रय–विक्रय नही करते थे परन्तु मुसलमान विधर्मियो का सग्रह दास रूप में करते थे। वे उन्हे मुस्लिम धर्म स्वीकार कराते थे।

(ग) तीसरी श्रेणी मे वे दास आते थे जो विजयी राजा के द्वारा अपने सबंधियो व मित्रो को उपहार स्वरूप प्रदान किये जाते थे। इनमे वो दास भी होते थे जो युद्ध बदी होते थे। विजयी राजा हारी हुई सेना को बदी बना लेता था और उन्हें दास बनाकर अपने राज्य में ले आता था।

(घ.) दासो की चौथी श्रेणी वो थी जो गुलामो के उत्तराधिकारी होते थे अर्थात् यदि कोई गुलाम अपने मालिक के यहाँ काम करता है, फिर उसके बच्चे भी उसी मालिक या उसके बच्चों के यहाँ दास के रूप में कार्य करें। पीढी दर पीढी गुलाम का कार्य करने वाले इस श्रेणी में आते थे।

मध्ययुगीन भारत मे मुसलमानो के आगमन व बढते प्रभुत्व के कारण उनका प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ां मुस्लिम विजय के साथ ही साथ यह प्रथा विजित देशो में फैल गई। वे विधर्मियों और पराजित सैनिको का संग्रह दास रूप में करते थे। उन्हें अपने धर्म में दीक्षित कर अपने धर्म व कार्य क्षेत्र की सीमा बढाते थे, ये तो हुई पुरुष दासों की बात।[1] तत्कालीन इतिहासकार इब्नबतूता लिखता है कि उस समय स्त्री दासो की दशा अत्यन्त खराब थी। मुसलमान हिन्दू स्त्रियो का शोषण करते थे, वे हिन्दू स्त्रियों को

---

1 धनाम्बु प्राप्य भौट्टेभ्य. [illegible]विक्रयात्।

गर्जन्नाशाः व्यधात्सर्वास्तदा [illegible]ः।।

जोनराजकृत राजतरंगिणी (158)

एक–दूसरे को उपहार स्वरूप देते थे व विद्वेष के चलते मुसलमान अधिकतर हिन्दुओ की उच्च कुल की स्त्रियो को दासी बनाने में प्रसन्नता प्राप्त करते थे व उन्हे नृत्य–सगीत कला में प्रशिक्षित करके राजदरबारों मे नचवाते थे और उन्हे अपमानित करते थे। यही कारण था कि मध्ययुग मे स्त्रियाँ पर्दे मे रहती थी। व बाल–विवाह जैसे कुप्रथा का चलन प्रारम्भ हुआ। लोग विदेशियो से बचाने के लिए लडकियो को घर से बाहर नहीं निकलने देते थे व उनका शीघ्र विवाह कर देते थे, इन सबके परिणामत स्त्रियों की स्वतंत्रता का हनन हुआ।

सामान्यत हिन्दू दासो का क्रय–विक्रय नही करते थे, परन्तु जब विदेशी मुसलमान यहॉ की स्त्रियो के साथ अमानुषिक अत्याचार करने लगे तो हिन्दुओं ने भी इसका प्रत्युत्तर इसी प्रकार दिया। वे मुस्लिम कन्याओ विशेषत. सैय्यद कन्याओ को दासी के रूप मे इस्तेमाल करने लगे व इन कन्याओं को नृत्यकला मे पारंगत कर अखाडो मे भेजने लगे। मुस्लिम सुल्तान तो दासों को उपहार स्वरूप अन्य राजाओं को देते थे व उनके कृपा पात्र व मित्र बनते थे। इब्नबतूता लिखता है कि मुहम्मद बिन तुगलक ने चीन के राजा को 100 गुलाम स्त्रियां भेट किया।

उस काल मे दासों की स्थिति बहुत खराब थी, मालिक अपनी इच्छानुसार उन्हे एक जगह से दूसरे जगह भेजते थे व उन पर मनभाना अन्याय करते थे परन्तु कभी–कभी, कोई गुलाम यदि मालिक को किसी खतरे से बचाता था या उसकी जान की रक्षा करता था तो मालिक प्रसन्न होकर उसे

मुक्त भी कर देता था।[1] पराशर माधव व व्यवहार विवेकाद्योत ग्रंथ के ग्रथकार लिखते हैं कि प्राणरक्षा के एवज मे सभी वर्ग के दासो को मुक्त किया जा सकता था परन्तु राजघराने के दासो को किसी भी प्रकार छोडने का विधान नही था। चाहे वो अपने मालिक की प्राण रक्षा भी करे। यदि मालिक निःसतान होता था तो वो अपनी दासी से पुत्र प्राप्त कर सकता था तथा उस दासी को दासत्व से मुक्ति दे सकता था।

तत्कालीन साहित्य व अभिलेखों जैसे साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि विजय नगर में भी दास प्रथा का चलन था और वहाँ स्त्रियाँ ही दासी रूप मे अधिक प्रचलित थीं।[2] उनका दैहिक शोषण होता था। 1382 के अभिलेख मे भी दासियों को उपहार मे देने का उल्लेख किया गया है। कई दास बंधुआ मजदूर बना कर भी रखे जाते थे।

कुछ विदेशी पर्यवेक्षक बारबोसा, अब्दुल रज्जाक व पायस आदि ने दासियो की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि दासियो की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। समाज में उन्हें भोग्या के रूप मे देखा जाता था परिणामतः दासियों को नर्तकी, देवदासी व वेश्या के रूप मे जीवन यापन करना पडता था।

हिन्दू–मुस्लिम संबंध

सल्तनत काल में हिन्दुओं और मुस्लिम सम्प्रदाय की पारस्परिक असहिष्णुता ही प्रसिद्ध है। एक–दूसरे के धर्म, आचार–विचारादि से मेल न होने पर भी इस समय जो कुछ भी परिवर्तन हुए उस पर विचार करना

---

1 (क).व्यवहारविवेकोद्योत (214), (ख) व्यवहारकाण्ड (291)

आवश्यक है। इतिहासकारो का एक वर्ग ऐसा भी है जो ये मानता है कि मध्यकालीन युग धार्मिक असहिष्णुता का युग नही था। वे दिल्ली सुल्तानो के राजनीतिक उद्देश्यो पर अधिक बल देते है, तथा जिस प्रकार हिन्दू व मुलसमानो ने एक दूसरे के विचारो, रीति–रिवाजो, रहन–सहन आदि को प्रभावित करना आरम्भ किया था उसी के आधार पर निर्णय करते है कि इस युग में हिन्दू और मुसलमान के सम्बन्ध परस्पर सहयोगी थे। सम्भवतया उनका यह विचार आधुनिक समय में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्धों में सुधार तथा आधुनिक युग की धार्मिक उदारता की प्रवृत्ति और उसकी आवश्यकता के कारण भी है। इतिहाकार डा ए. रशीद के अनुसार इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक मिश्रण तथा भाषा सबंधी आदान–प्रदान की ऐसी प्रवृतियां थी जो एक सूत्र मे बंधे हुए एक राष्ट्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर रही थी। परन्तु कुछ इतिहासकार ऐसे भी है जो इस युग को धार्मिक असहिष्णुता का युग मानते है। इनमे डा. आशीर्वादी लाल कहते हैं कि "समकालीन अकाट्य परम्पराएं चली आयी हैं जिनसे प्रमाणित होता है तुर्को का शासन अत्याचारपूर्ण था।" [1]

राजतरंगिणी मे भी उल्लिखित है कि उस समय के शासक हिन्दू धर्म के कितना विरुद्ध थे। वो हिन्दू धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणों के प्रति काफी अत्याचार पूर्ण व्यवहार करते थे। जोनराज ने लिखा है कि सूहभट्ट ने ब्राह्मणों को अनेक प्रकार से कष्टित किया और इतना पीडित किया कि उन्हें जान बचाकर भागना पडा और जब अत्याचार असह्य हो गया तो आत्महत्या करने पर मजबूर होना पडा। जोनराज ने सूहभट्ट द्वारा ब्राह्मणों पर किए

गए अत्याचारो का वर्णन अनेक श्लोको मे किया है। [1] उनके अनुसार सूहभट्ट ने पूरे उत्साह से जो थोडे बहुत ब्राह्मण बच गये थे और जिन्होने इस्लाम कबूल नही किया था। उन सबकी या तो हत्या करवा दिया या तो उन्हे निर्वासित कर दिया। [2] उस काल में हिन्दू वर्ग प्रत्येक प्रकार से पीडित वर्ग था। ऐसी स्थिति में हिन्दू–मुसलमानों के अच्छे सबंध का प्रश्न ही नहीं उठता। उपर्युक्त दोनो ही विचारो के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान इतिहासिकारों ने अपने–अपने तर्क व प्रमाणित तथ्य प्रस्तुत किये हैं। इस संबंध में डा. के. एस. लाल ने इस समस्या के तीन कारण बतायें हैं, प्रथम, मुसलमानों द्वारा भारत विजय की विशेष लालसा, द्वितीय विजेता और विजित की स्वाभाविक कटुता तथा तृतीय गैर मुसलमानों देश में लागू किये जाने वाले मुस्लिम कानून की प्रकृति।

यह निश्चित रूप से माना जाता सकता है कि मुलसमान शासको ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना और उसके विस्तार में धर्म का सहारा लिया। इस कारण उनके राजनीतिक उद्देश्य में धार्मिक उद्देश्य सर्वदा सम्मिलित रहे। इसी प्रकार, विजेता और विजितों के संबंधों में कटुता होना आवश्यक था, मुख्यतया ऐसी स्थिति मे जबकि धर्म, विचार और संस्कृति के आधार पर उनमें पर्याप्त अन्तर थे। और उन्होंने किसी धर्म–निरपेक्ष शासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था को आरम्भ करने का प्रयत्न ही नहीं किया था। ऐसी स्थिति में हिन्दुओ को न्याय व समानता प्राप्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं था, इसके अतिरिक्त यह भी था कि अलाउद्दीन खिलजी को छोड़कर सभी

1.जोनराज कृत राजतरंगिणी (श्लोक संख्या– 655–672 तक)

सुल्तानो ने उलेमा वर्ग की शक्ति व प्रभाव को स्वीकार करके उन्हे शासन में सलाह देने तथा हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार दे दिया था और उन्होने पूरी तरह धार्मिक कट्टरता का परिपालन किया। इन परिस्थितियों में सुल्तान और शासक वर्ग से हिन्दुओ के प्रति सद्व्यवहार करने की आशा रखना बेकार था। इस प्रकार हिन्दू जनता न तो शासन से उदारता की आशा कर सकती थी और न ही किसी प्रकार शासन में भाग ले सकती थी। परिणामस्वरूप वह जीवन के किसी भी क्षेत्र मे न्याय और सुविधाए नही प्राप्त कर सकती थी। इस कारण विशेष अधिकार प्राप्त मुसलमानों और अधिकार रहित हिन्दुओ में परस्पर वैमनस्य के अतिरिक्त और कोई संबंध हो ही नहीं सकते थे चाहे वो शत्रुता स्पष्ट हो या अस्पष्ट।

मुस्लिमों ने बडी संख्या में धर्म परिवर्तन कराये, तत्कालीन युग के अत में अधिकाश मुसलमान, धर्म परिवर्तन करने वालो के वंशज है। ऐसा विदेशी इतिहासकार रिश्ले, बेवरली व हण्टर ने लिखा है। वे मुस्लिम जो बाहर के विदेशी होने का दावा करते है; पीढियों तक हिन्दुओं के निकट पडोसी की तरह रहे। यह माना जा सकता है कि जन साधारण चाहे वो हिन्दू हो या मुसलमान साधारणतया शांतिपूर्वक रहना पसंद करता है। हिन्दू और मुसलमान जब साथ–साथ रहते थे तो उनका एक–दूसरे पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था, अतः दोनों समुदायों के मध्य वेशभूषा व रीति–रिवाजो का प्रभाव भी एक–दूसरे पर पडना व इसी आधार पर दोनो वर्गो का जनसाधारण एक–दूसरे से कुछ सिखा सका। इसके अंतर्गत धर्म का प्रभाव भी एक–दूसरे पर पडा हिन्दू रहस्यवादी सूफियों को मान्यता देते थे व मुसलमान हिन्दू योगियों का आदर

कुछ मुस्लिम शासक हिन्दू लेखको के सरपरस्त थे, तथा कुछ हिन्दुओं ने फारसी में लिखा। हिन्दी पर पारम्परिक वैज्ञानिक प्रभाव पडा जिससे उर्दू का विकास हुआ। कुछ मुलसमान छात्रो ने हिन्दू–दर्शन, और विज्ञान का अध्ययन किया। कुछ ने योग व वेदान्त, चिकित्सा विज्ञान व ज्योतिष की जानकारी ली। कुछ मुस्लिमों ने भारतीय भाषा मे लिखा लेकिन ये सब सीमित था और उत्तरी भारत के कुछ सीमित भाग मे जन साधारण के विशेष वर्ग तक ही प्रचलित था। विहगम दृष्टि डालने पर और अन्य क्षेत्रों का आंकलन करने पर ज्ञात होता है कि ये सब ऊपरी दिखावा था, आतरिक रूप से सब एकदम भिन्न था, हिन्दू व मुसलमान मे काफी असमानता थी। मुसलमानों के विचार प्रजातात्रिक नही थे, वे अनुदार थे और हिन्दुओ में वो बात नही थी वे उदार थे व उनकी संस्कृति की ये विशेषता थी कि वे सभी को अपने मे समो लेते थे, इन्हीं वैचारिक भिन्नताओं के कारण ये दोनों समुदाय कभी एक न हो सके दोनो के बीच की खाई उत्तरोत्तर तत्कालीन मुसलमान शासको के धार्मिक कट्टरता व अत्याचारपूर्ण शासन के कारण बढती ही रही। कभी किसी शासक ने अपने उदार रवैय्ये के कारण इसे कम भी करना चाहा तो अगले कट्टर शासक ने उसे और भी वृहद रूप दे दिया, जिसका परिणाम ये हुआ कि दोनों समुदायों में एक स्वाभाविक कटुता का उदय हुआ जो समय के साथ उत्तरोत्तर बढता ही रहा, घटा नहीं। मुसलमानों ने मूर्ति तोडना व धार्मिक कट्टरता का त्याग नहीं किया। यह कार्य मुहम्मद बिन कासिम के भारत आगमन के साथ ही शुरू हो गया था। पारम्परिक राष्ट्रीय मान्यताएं जो आतरिक रूप से मनुष्य को प्रभावित करती हैं उनमें भी कोई समझौता नहीं हो

सका, हिन्दू तो सहनशील रहे पर मुसलमानों ने अपनी कट्टरता का त्याग नहीं किया। दोनो समुदायो मे अपने–अपने विश्वासो के कारण मौलिक अतर बना रहा। अत: दोनो समुदाय साथ–साथ रहते हुए भी अपने–अपने मार्ग पर चलते रहे। दोनो ही अपनी धुरी पर घूमते रहे, कभी एक नहीं हो सके।

मुस्लिम शासित प्रदेश मे हिन्दुओं की दशा बेहद शोचनीय थी। जिन परिस्थितियों मे हिन्दू व मुसलमान रहने के लिए बाध्य किए जाते थे वही दोनो सम्प्रदायों के एक होने में सबसे बडी बाधा थी मुसलमान शासक इतनी राजनीतिक सप्रभुता दिखाते थे कि हिन्दुओ को कोई राजनीतिक स्तर नहीं प्राप्त थे इतिहासकार डा. आर. सी मजुमदार लिखते हैं कि, "यह सत्य है कि हिन्दुओ को शासन मे बहुत बडी सख्या में छोटे पद प्राप्त थे और इस युग के अत में कुछ बडे असैनिक पद पर व बहुत ही कम सैनिक पद भी प्राप्त हुए लेकिन उनका कोई राजनीतिक स्तर न था।" मुसलमानों के अदर इतनी धर्मान्धता भरी थी कि वो इस्लाम के अतिरिक्त और किसी धर्म के बारे में सोच भी नहीं सकते थें सरजदुनाथ सरकार के अनुसार "इस्लामिक सिद्धान्त के नस–नस मे जहर भरा हुआ था, इस सिद्धान्त के अंतर्गत एक ही धर्म, एक ही लोग व एक ही सत्ता हो सकती थी।" कुरान में भी धार्मिक कट्टरता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया कि जो सच्चे धर्म (इस्लाम) का पालन नहीं करते, उनसे युद्ध कीजिए और जब तक वह आत्म समर्पण करके इस्लाम न स्वीकार कर ले तब तक अपमानपूर्वक जजिया अदा करे।[1] मुस्लिम राज्य का ये सिद्धान्त था कि गैर मुस्लिम हमारे शत्रु हैं ये पूरी तरह से नष्ट हो जाएं, इसके लिए उन्होंने हर तरह के प्रयास किए। बीच में इस प्रथा 'जजिया' से

1 कुरान (IX , 29)

ब्राह्मण मुक्त किये गये परन्तु फिरोज–तुगलक ने पुन ब्राह्मणो पर भी जजिया लगा दिया। इस प्रकार मुस्लिम शासको ने कोई भी ऐसा कृत्य बाकी नही छोडा जिसे हिन्दू धर्म पर कुठाराघात न हो, परिणामतः हिन्दुओं के मन मे उनके प्रति घृणा भाव ने ही जन्म लिया। मुसलमान हिन्दुओ को सिर्फ निम्नस्तर पर ही बर्दाश्त करते थे। इनको वह जिम्मी की संज्ञा देते थे। मुस्लिमो से इनका एक प्रकार का समझौता था कि ये उनकी सेवा करेगे व बदले में मुसलमान उनकी रक्षा का दायित्व लेते थे। परन्तु यह ध्यान रखाा जाता था कि ये आगे न बढने पाएं। जिम्मी अपमानजनक शब्द था, ये निचले स्तर के असहाय वर्ग थे, जिन्हे केवल मुलसमानो के रहमोकरम पर जिन्दा रहने का अधिकार था। इनको इतना ज्यादा दबाया जाता था कि ये सिर्फ अपने जीवित रहने के बारे में सोचे अपने उत्थान के बारे में नहीं।

परन्तु स्थिति हमेशा एक सी नही रहती और यही कारण है कि बर्दाश्तपूर्ण असहनीय स्थितियों के परिणामस्वरूप हिन्दुओं के मन में इस्लामिक राज्य के प्रति ईर्ष्या व द्वेष ने जन्म लिया और मौका मिलने पर उन्होंने उनके इस कुकृत्य का जवाब इसी प्रकार से दिया। सामाजिक व धार्मिक कारणों के अतिरिक्त ऐतिहासिक कारणों से भी दोनों समुदाय मे अन्तर उत्पन्न हुआ। सिकन्दर लोदी ने हिन्दुओं पर बडा अत्याचार किया था। उसने आदेश दिया था कि हिन्दू दाढी नहीं बना सकते व सिर के बाल नहीं बनवा सकते थे वो ऐसा कोई भी कार्य नहीं कर सकते थे जिससे उनका हिन्दुत्व प्रदर्शित हो। उसके आदेशानुसार शिवलिंग का प्रयोग कसाई मॉस तौलने में करते थे। मध्य काल में भारतीय हिन्दुओं पर बहुत अमानुषिक अत्याचार हुए तथा

मुसलमानो ने हिन्दुओ को बहुत सताया व दबाया , परिणाम स्वरूप हिन्दुओ के मन मे मुसलमानो के प्रति कटुता व घृणा ही उपजी कोई अन्य भावना नही।

मध्ययुगीन जीवन में धर्म और समाजिक संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान था, किन्तु इस मामले में हिन्दू व मुसलमानो में बहुत भेद था। इनके धार्मिक मतभेदो के विषय मे प्रोफेसर यू. एन. घोषाल ने लिखा है कि, " वे अपनी धार्मिक आस्था, पूजा, अर्चना तथा ईश्वर भक्ति से सबंधित दैनिक व्यवहारों में मौलिक विभेद रखते थे।" मुस्लिम विजेताओं ने भारत मे ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी जो पहले नहीं थी। इसीलिए सम्पूर्ण मध्यकालीन अवधि मे यह समस्या बनी रही कि अपने–अपने सुदृढ मूलाधारों वाली इन दो सामाजिक व्यवस्थाओ में परस्पर स्वस्थ संबंध कैसे विकसित हों ?

मध्यकालीन युग में शासक व विशेषाधिकार प्राप्त मुस्लिम वर्ग की धार्मिक असहिष्णुता ने इस सम्पूर्ण काल में हिन्दू व मुसलमानों के सबधों को सुधरने नहीं दिया। इसके अतिरिक्त जबकि हिन्दू धार्मिक दृष्टि से उदार परन्तु सामाजिक दृष्टि से पूर्ण अनुदार थे, मुसलमान सामाजिक दृष्टि से उदार किन्तु धार्मिक दृष्टि से कट्टर धर्मान्ध थे। धर्म व समाज के प्रति हिन्दू व मुसलमान की ये विरोधी धारणाएं भी दोनों को एक–दूसरे का निकट लाने में बाधा थी। इन सभी कारणो से हिन्दू व मुसलमानों के संबंध इस युग में कटुता पूर्ण रहे। इस सत्य को छिपाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि व्यावहारिकता का लाभ सत्य को छिपाने में नहीं बल्कि उसे जानकर पूर्वजों की भूलों में सुधार करते हुए भविष्य का निर्माण करने में है, क्योंकि दोनों ही जातियों में अनेक अच्छाइयॉं थी, अगर दोनों समुदाय अपनी कटुता को

भुलाकर अपनी अच्छाइयो के साथ एक होने का प्रयास करे तो वर्षों से चली आ रही वैमनस्यता को कम करने मे सहायता मिल सकती है।

सामाजिक संरचना

भारतीय जनसख्या के विशाल बहुमत के सामाजिक जीवन का जहॉ तक संबध है, स्मृतियॉ उसे जानने का प्रमुख स्रोत हैं। इस युग को जो पूर्ववर्ती काल से पृथक करता है वह है अभिलेखो का अभाव, जो स्मृति के प्रमाणों को परखने मे सहायक होता है। स्मृति के क्षेत्रीय सम्प्रदायों के उदय के द्वारा इस दोष (अभिलेखो के अभाव) को काफी हद तक दूर किया गया।

इसमे प्रथम है मिथिला का स्मृति सम्प्रदाय– इसमें चण्डेश्वर (1300–1370) द्वारा रचित गृहस्थ रत्नाकर व अन्य कृतियॉ, वाचस्पति मिश्र (1425–90) का विवाद चिन्तामणि व अन्य ग्रंथ। मिसारू मिश्रा (1450) का विवाद चंद्र इत्यादि हैं।

बंगाल का स्मृति सम्प्रदाय

शूलपाणि (1375–1440) द्वारा रचित याज्ञवल्क्य स्मृति पर प्रसिद्ध टीका दीप कलिका।

वाराणसी का स्मृति सम्प्रदाय– गोरखपुर के मुखिया मदन सिह (1425–1450) द्वारा इस बीच में लिखें गये ग्रंथ है, व्यवहार विवेकोद्योत व विश्वेश्वर भट्ट (1360–90) का लिखा ग्रथ मदन पारिजात।

दक्षिणात्य स्मृति सम्प्रदाय

'माधवाचार्य' जो 'विद्यारण्य' के नाम से प्रसिद्ध थे

(1300–80) द्वारा रचित पराशरस्मृति, पराशरमाधव के नाम से प्रसिद्ध है, जो नृसिह प्रसाद ग्रथ का अनुभाग व्यवहार सार इस ग्रंथ के लेखक 'दलपत' (1490–1515) है। प्रताप रूद्र (1497–1540) द्वारा लिखित 'सरस्वती विलास' का अनुभाग 'व्यवहार काण्ड'। इन विशाल ग्रथ राशियो में बिखरे तथ्यो के आधार पर तत्कालीन सामाजिक सरचना को समझने मे भरपूर सहायता मिलती है।

सामाजिक विभाजन व उपविभाजन– परम्परा के अनुरूप भारतीय समाज चार श्रेणियो में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र में विभक्त था। इस काल में सामाजिक व्यवस्थाकारों ने भी अनेक आचार–विचार तथा प्रतीकात्मक आधार पर प्रत्येक वर्ण में अतर बनाये रखने की व्यवस्था की है। ग्रंथकारों ने अपने–अपने ग्रंथो में इन चारों वर्गो की दिनचर्या का वर्णन किया है।

ब्राह्मण

ब्राह्मण के विशेषाधिकारो के विषय में भी व्यवस्थाकारो मे अनेक मत–मतांतर मिलते हैं। गृहस्थ रत्नाकर में कहा गया है कि सूर्योदय से सूर्यास्त तक ब्राह्मणों को अकर्मण्य नहीं रहना चाहिए। [1] ब्राह्मणों का वर्णन करते हुए इस ग्रथ में कहा गया है कि उसे अनिवार्य, व ऐच्छिक कर्तव्यों मे अपने को संलग्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे निर्दोष व्यवसाय का चयन करना चाहिए। सामान्य रूप से ब्राह्मण खेती कर्म नही करते थे, वो अपने खेत को (जो उन्हें दान में प्राप्त था) शुद्रो से जुतवाते थे। विपत्ति के समय मे ब्राह्मणों द्वारा कृषि कर्म का विधान था। [2] इसके अतिरिक्त ग्रंथों के

1.गृहस्थ रत्नाकर (134)

अनुसार ब्राह्मण व्यापार व काष्ठकला का कार्य भी नही कर सकते थे। ये सभी कार्य अन्य जातियों के लिए निर्धारित थे। कलिवर्ज्य के अनुसार चूंकि ब्राह्मणों के लिए भिक्षा मागना एक श्रेष्ठ कर्म था अतः ब्राह्मणों के लिए यह नियम निर्धारण था कि वे दूसरे दिन के अन्न का सचय नही कर सकते थे। [1] स्मृतियो के अनुसार ब्राह्मणो को अपराध के लिए भी दण्ड न देने का विधान था। मेधातिथि ने अपराधी ब्राह्मण को शारीरिक दड तथा जुर्माने से भी मुक्त किया है। [2] किन्तु ये व्यवस्था सिर्फ विद्वान व सच्चरित्र ब्राह्मणो तक ही सीमित थी। [3] स्मृतियों के अनुसार जाति व्यवस्था में सर्वश्रेष्ठ स्थान पाने के कारण ब्राह्मणो को विशेषाधिकार प्राप्त थे चूंकि वो धर्मिक कृत्यों के प्रमुख कर्ता–धर्ता होते थे, अतः समाज में उन्हे मे विशिष्ट स्थान भी प्राप्त था और वे दंड व्यवस्थाओं से परे थे। ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ मानने के कारण राजा (क्षत्रिय) भी उनको श्रेष्ठ मानता था और इसका एक कारण यह भी था कि ब्रह्महत्या अक्षम्य अपराध माना जाता था और उसका कोई भी प्रायश्चित नही था। अतः लोग भयवश भी ब्राह्मणों को कुछ नहीं कहते थे। इसका परिणाम ये हुआ कि ब्राह्मण निरंकुश हो गये। व अपने को सर्वोपरि मानने लगे। स्कध पुराण में कहा गया है कि ब्राह्मणों को दान देने से पितृ तथा देवता दोनो प्रसन्न होते हैं, ऐसी व्यवस्था अन्य स्मृतियों व पुराणों में भी है। मंदिरों में मूर्तिपूजा ब्राह्मण ही करता था। जो देवलक या पुजारी कहलाता था परन्तु उस काल मे पुजारी श्राद्ध कर्म नही करवा सकता था। श्राद्ध कर्म के लिए

1.(क) पराशर माधव (III,–158)

(ख) वृहद्धर्म पुराण (III,–2)

2 मत्स्यपुराण (217–163–6)

3 मनुस्मृति (8–124)

ब्राह्मणो का एक अन्य वर्ग था। देवलक अपनी जीविका मूर्तिपूजा से प्राप्त होने वाले धन से चलाता था। ब्राह्मण को जाति व्यवस्था के अंतर्गत सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। जन साधारण के सभी सस्कार भी ब्राह्मणो द्वारा जिन्हें पुरोहित कहा जाता था, संपन्न कराया जाता था। [illegible] सरचना में ब्राह्मणो का महत्व बहुत अधिक था। परन्तु इनका जीवन सयम से बंधा था स्मृतियो मे ब्राह्मण के लिए मांस व सुरा का प्रयोग वर्जित था।[1] प्रत्येक ब्राह्मण अपने लिए निर्धारित नियमों का कट्टरता पूर्वक पालन करता था। जोनराज ने लिखा है कि राजा लक्ष्मदेव जो कि जाति से ब्राह्मण था, उसे क्षत्रिय राजा रामदेव ने निःसतान होने के कारण अपना दत्तक पुत्र बनाया था, ने क्षत्रिय राज धर्म का पालन करते हुए भी ब्राह्मणों के स्वधर्म का त्याग नही किया।[2] कालान्तर में ब्राह्मणों के नियमबद्धता में अंतर आया और उनकी जीवन शैली में पूर्वकाल से काफी परिवर्तन हो गया।

क्षत्रिय

शास्त्रो के अनुसार शासन करना, प्रजा की रक्षा करना तथा युद्ध में हिस्सा लेना क्षत्रिय वर्ग के विशिष्ट कर्म थे। शासक वर्ग होने के कारण इनके अपने विशेषाधिकार भी थे। इस काल में राजपूत जाति का अभ्युदय हुआ था। राजपूत जाति तथा शासको में अनेक विशिष्ट गुण [illegible] थे। इनमें राष्ट्र प्रेम की भावना कूट–कूट कर भरी होती थी। इनमे वंशगत रक्त शुद्धता की भावना थी। पराशर माधव मे क्षत्रिय वश के कार्यों का विस्तृत

---

1 पराशर माधव (III,–409–13)

2 क्षत्रीकृतोऽपि नामुचत् स्वधर्मं द्विजभूपतिः।
न माणिक्यश्रियं धत्ते रजितोऽश्मापि जातुचित्।।

वर्णन है। इन के अनुसार राजा का कर्त्तव्य दुष्ट को दण्ड देना व सज्जन की रक्षा करना है। लोगों की रक्षा करने के लिए शस्त्र धारण करना केवल क्षत्रिय का अधिकार है। अपने वशगत अभिमान के लिए ये प्रसिद्ध थे। इनमे बलिदान तथा उच्च आदर्श के अपूर्व उदाहरण प्राप्त होते है, जिसकी छाप इस काल के इतिहास पर पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती है। आत्मसम्मान के लिए ये अपने प्राण गवा देते थे परन्तु सम्मान पर आंच नहीं आने देते थे। इस जाति की स्त्रियो ने भी ऐसी ही मिसाल कायम की है। राजपूत सैनिक व सेनापति वर्ग मे बहुविवाह प्रचलित था इसी कारण इनका अनेक जाति की स्त्रियों मे विवाह होना स्वाभाविक था। ये शरणागत की रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य मानते थे।

जिस प्रकार ब्राह्मणों के लिए पुराण व स्मृतियों का अध्ययन करना, तप, व्रत करना परम कर्तव्य था। उसी प्रकार क्षत्रियों के लिए शस्त्र विद्या का ज्ञान होना व युद्ध कला में प्रवीण होना अत्यंत आवश्यक था। इनका वर्णन स्मृतियों व शास्त्रों में है। उनके अनुसार राजपूत अपने अतिथि सत्कार के लिए विख्यात हैं। [1] शासक होने के कारण इनका एक अन्य कर्तव्य प्रजा को न्याय दिलाना भी था तथा साथ ही प्रजा के सुख–दुःख का भी ध्यान रखना था। हालांकि राजनीतिक दृष्टिकोण से इस काल को राजपूत काल की सज्ञा दी जाती है, एक शक्तिशाली वर्ग होने के कारण धर्म, समाज काव्य, साहित्य, कला तथा स्थापत्य, आर्थिक व्यवस्था आदि जीवन के सभी क्षेत्रों पर इनका गहरा प्रभाव है।

1.(क)गृहस्थ रत्नाकर (249)

कृत्य कल्प तरु मे मनु के अनुरूप ही लोक रक्षा के लिए राजा को लोक पालो (इन्द्र, वरुण, अग्नि, मित्र, वायु, सूर्य आदि के) तत्वों से उत्पन्न घोषित किया गया है। राजाओ की उत्पत्ति से जुडा यह सिद्धांत अपने मूलार्थ मे दैवीय सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है। क्षत्रिय समाज के एक प्रमुख अंग थे व उनका प्रमुख कार्य शासन व्यवस्था को सुचारु बनाना व शास्त्रार्थ के प्रयोग से प्रजा की रक्षा करना था जिससे प्रजा एक योग्य शासक के सरक्षण में चैन व अमन से रह सके।

वर्ण व्यवस्था की तीसरी श्रेणी वैश्यो की है। इस वर्ण के लोग सदैव की भांति व्यापार, कृषि, पशुपालन आदि में संलग्न थे। पशुपालन तथा कृषि व्यवसाय मे लगे हुए लोगो की सामाजिक प्रतिष्ठा कम होती जा रही थी। इनमे भी कई उपजातियाँ थी। इस काल में भी व्यापारी संघ शिल्प के रूप में संगठित थे। ये समाज की अर्थ व्यवस्था के मूलाधार थे, इनके द्वारा जीविका के लिए किये गये कार्यों से समाज की आर्थिक व्यवस्था का संचालन होता था। समाज मे इन्हें सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, ये अपनी जाति में ही विवाह करते थे। देश की समृद्धि इनका मूलभूत योगदान था। प्रायः उस समय तक वैश्य काफी सम्पन्न हो चुके थे। अत· अपने लिए निर्धारित कृषि कर्म ये स्वयं न करने शूद्रों से करवाते थे। शिल्पकार अपनी उत्कृष्ट कला के कारण राजदरबार में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लेते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी से ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण जाति का अभ्युदय हुआ, इनका वर्णन इतिहास व अभिलेखों में भी आया है। ये जाति है 'कायस्थ'। यह जाति बुद्धि व चातुर्य में सबसे अग्रणी थी अत· इसी कारण

इनको हमेशा ही राजदरबार मे विशिष्ट पद प्रदान किया जाता था। गुप्त काल के अतिम समय के अभिलेखो मे 'करण' (लिपिक) का उल्लेख हुआ है, जो अनेक प्रकार के प्रशासकीय अधिकारी होते थे। नवी शताब्दी तक ये 'कायस्थ जाति' के रूप मे सगठित हो चुके थे। ग्यारहवी शताब्दी के बाद तो कायस्थो के उच्च प्रशासकीय पदो पर नियुक्त होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसी काल मे कायस्थो की उत्पत्ति से संबंधित कई मिथक निर्मित हुए।

वर्ण व्यवस्था की चौथी श्रेणी शूद्रो की है। इन जाति के लोगो का कार्य अन्य तीन जातियो की सेवा करना था। पूर्ववर्ती काल की भांति साधारण रूप से शास्त्रीय व्यवस्था शूद्र के प्रति अनुदार ही रही। पराशर तथा लघुव्यास आदि स्मृतियों मे शूद्र के हाथ का भोजन तथा उनसे सम्पर्क वर्जित है। स्मृतियो में शूद्रों के अधिकारो के बारे में बताया गया है। [1] परन्तु इस संदर्भ में परस्पर दो विरोधी तथ्यों का ध्यान रखना होगा अनेक शास्त्रीय नियमों का व्यवहार में पालन नही होता था और वे आदर्श व्यवस्था के रूप मे थे। शूद्रों की दयनीय तथा निर्बल स्थिति एक सामाजिक वास्तविकता थी क्योंकि आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था विशेष रूप से भूमि व्यवस्था प्राय उच्च वर्ण के हित मे थी। शूद्रो से कोई भी कार्य जबरन कराया जाता था और अपनी निम्न स्थिति के कारण वे उस कार्य को करने के लिए बाध्य थे। जोनराज ने राजतरगिणी में चाण्डालों (डोमों) की स्थिति का वर्णन किया है। राजा डोम को लोहे की बेडी से जकड कर सदैव उनसे मृत कर्म करवाता था। [2] मेधातिथि ने शूद्रों से सेवाकार्य तथा इनमें से कुछ वर्गों के दासत्व को

---

2. अनिध्नकरूणानिध्नो नरेन्द्रो डोम्बतस्करान्।
बन्ध्याग्निगडैर्गाढ मृत्कर्माकारयत् सदा ।। जोनराज कृत राजतरंगिणी -(952)

स्वीकार करते हुए भी शूद्रो की व्यक्तिगत स्वतत्रता को मान्यता प्रदान की है। [1] शूद्र भी कई उपजातियों मे विभक्त थे। ऐसा उदाहरण मिलता है कि इनमे कुर्मी जाति के लोग अत्यन्त सम्पन्न किसान थे। वैसे तो समाज मे हमेशा ही इन्हे नीची निगाह से देखा जाता था, सताया व दबाया जाता था। किन्तु अपनी मेहनत के कारण यदि ये सम्पन्न हो जाते थे तो समाज मे इनकी स्थिति कुछ अच्छी हो जाती थी। मनु द्वारा उल्लिखित शूद्र शिष्य पर मेघातिथि का भाष्य है कि "कभी–कभी शूद्र वर्ण के लोग व्याकरण तथा अनेक प्रकार के शिल्प विज्ञानों का अध्ययन करते थे।" शास्त्रीय व्यवस्था के बावजूद शूद्रों के शासक तथा योद्धा होने के भी उदाहरण प्राप्त होते है। नारद स्मृति के भाष्यकार ने आपात काल मे शूद्रो द्वारा क्षत्रियो के कर्म अपनाने की भी व्यवस्था दी है। किन्तु शोषण के प्रश्रय देने वाली इस काल की वर्ण व्यवस्था में ये उदाहरण अपवाद स्वरूप ही रहे होंगे। दास–प्रथा की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। दासों की कई कोटियॉ थी साधारण रूप से दास प्रायः शूद्र कोटि से ही बनाये जाते थे। वैश्य अपनी खेती के लिए शूद्रों का कृषक मजदूर के रूप में इस्तेमाल करते थे। साधारण रूप से गृहदासों की स्थिति बंधुआ खेतिहर मजदूरों से बेहतर थी। राज दरबार मे भी इन्ही जातियों मे से दास व गुलाम बनाये जाते थे, जिनका सामाजिक जीवन नही के बराबर था ये किसी भी कार्य के लिए स्वतंत्र नही थे इन्हें अपने हर कार्य के लिए अपने मालिकों पर आश्रित रहना पडता था।

इसके अतिरिक्त चाण्डाल, सोपाक आयोगव, अंबष्ट, सूत मगध आदि जातियॉ वर्ण संकर कोटि मे आती थी, [2] जिन्हें वर्ण व्यवस्था मे बंधे हुए

समाज मे सीमित धार्मिक अधिकार व स्वतत्रता प्राप्त थी। उन्हें अस्पृश्य माना जाता था, किन्तु इस काल मे धोबी, चर्मकार, नट, मदारी, कैवर्त (केवट मल्लाह) आदि पेशे के लोग भी अछूत की श्रेणी में आ गये थे। [1] साथ ही शबर, गोड, भील, पुलिद आदि जनजातियों की अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ विन्ध्य, बिहार, बगाल, मध्य प्रदेश तथा दक्कन में रहती थी। ये लोग आशिक रूप से खेती व जगली जानवर का शिकार करके जीवन–यापन करते थे ।

तत्कालीन समाज मुसलमान शासकों के वर्णन के बिना अपूर्ण है। क्योंकि उस युग में मुसलमानों का राज्य था, हालांकि मुसलमान, इस देश के बाशिदे नही थे। उनका आगमन विदेशी आक्रमणकारियो के साथ हुआ था तथापि वे इस देश मे इस प्रकार रच–बस गये थे मानों उनका जन्म यही हुआ हो। मुसलमानों के भारत आने से पहले भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था किन्तु मुसलमानों के आगमन से उसका विभक्तीकरण बढ गया। समाज का सबसे सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानों का था। वह भारत का शासक वर्ग था। इस कारण वह सबसे अधिक प्रभावशाली व विशेष अधिकारों से युक्त था। राज्य के सभी बड़े–बडे पद उस वर्ग के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखे जाते थे, बडी–बडी जागीरे उन्हे प्राप्त होती थी तथा समाज व शासन में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ था।

परन्तु विदेशी मुसलमान भी विभिन्न वर्गों में विभक्त थे। तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अबीसीनियन आदि ऐसे ही वर्ग थे। 13वीं शताब्दी तक तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित रखी और उन्होंने अन्य विदेशी मुसलमानों को

समानता का दावा नही करने दिया। परन्तु 14 वी सदी के आरम्भ मे इस स्थिति मे परिवर्तन आया खलजियो द्वारा शासन सत्ता प्राप्त करते ही तुर्को की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी तथा परस्पर विवाह संबंधो व बदली हुई परिस्थितियों ने सभी विदेशी मुसलमानो का स्तर एक सा कर दिया।

समाज का दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानो का था, ये वे ही मुसलमान थे जो हिन्दू से मुसलमान बने थे अथवा ऐसे परिवर्तित मुसलमानों की सतान थे। विदेशी मुसलमानो ने भारतीय मुसलमानों को कभी अपने समान नही समझा, क्योंकि उन्हें न तो भारत का विजेता माना गया और न श्रेष्ठ नस्ल का। अधिकांश भारतीय–मुसलमान निम्न हिन्दू जातियों में से मुसलमान बने थे अतः विदेशी मुसलमान उन्हे हेय दृष्टि से देखते थे। भारतीय मुसलमानों को शासन व समाज में बराबर का स्थान नहीं दिया गया । सम्पूर्ण सल्तनत युग में कतिपय भारतीय मुसलमान ही ऐसे हुए जिन्हें राज्य में विशिष्ट पद प्राप्त हुए। 14 वी शताब्दी मे खिलजी शासन के आरम्भ होने से इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु तब भी भारतीय मुसलमान निम्न स्तर पर ही रहे यह स्थिति मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता को ही दर्शार्ती है। हिन्दू जाति व्यवस्था का प्रभाव भी मुसलामाने पर पडा मुख्यतया धर्म परिवर्तित मुसलमान अपनी हिन्दू जाति के प्रभाव से मुक्त न रह सके। मुसलमान बनने के पश्चात् भी उन्होंने अपने जाति विभेद को स्थापित रखा जिसके कारण वे विभिन्न वर्गो में बटे रहे। इस कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान नस्ल व उत्पत्ति के आधार पर विभिन्न वर्गो में बंटे हुए थे। धर्म, शिक्षा व जीविका के आधार पर भी मुसलमानों के विभिन्न वर्ग थे। शिया व

सुन्नियो मे अतर था। सैनिक व विद्वानो में अतर था। तथा धार्मिक कृत्यों को करने वाला उलेमा–वर्ग उन सबसे पृथक था। लेखनी से जीविकोपार्जन करने वाले मुस्लिम वर्गों मे सबसे अधिक प्रभावशाली लोग धर्माधिकारी लोग थे जो उलेमा कहलाते थे। वे मुसलमानों के पादरी थें उनका समुदाय वंशानुगत नहीं था। परन्तु ये पद भारतीय मुसलमानों के पहुॅच में नही था क्योंकि इस युग में भारतीय मुसलमान धर्माधिकारियों के उच्च पद पर नही पहुॅच सकते थे। इसके बावजूद उलेमा का एक सुसगठित समाज था और ये अपने अधिकारों को भली–भांति समझते थे। न्याय, धर्म तथा शिक्षा संबंधी नौकरियों पर उनका एकाधिकार था। इनमें से कुछ निजी तथा राजकीय शिक्षा संस्थाओं मे अध्यापको का कार्य करते थे और कुछ ने अपने मदरसे स्थापित कर लिये थें, जो इस्लाम धर्म प्रचार का अड्डा था। यहॉ विद्यार्थियों को कट्टर इस्लाम व हिन्दू विरोधी शिक्षा दी जाती थी। परिणामस्वरूप हिन्दू व मुसलमान सम्प्रदाय मे एक स्वाभाविक घृणा व कटुता के भाव ने जन्म लिया जो समय के साथ–साथ बढ़ती ही रही, घटी नहीं। जिसका कुपरिणाम आज के समाज में भी व्याप्त है। उलेमाओं के प्रभाव से ही हिन्दू व मुसलमान एक ही समाज में एक साथ रहते हुए भी वैचारिक रूप से कभी एक न हो सके। उलेमाओं में अनेक कातिब, मुहतासिब, मुफ्ती तथा काजी थे और कुछ ऐसे थे जो अपनी शक्ति तथा समय धर्म प्रचार में व्यय करते थे। सरकार तथा सामान्य जनता पर उनका बहुत प्रभाव था। इस युग (मध्य युग) के सभी इतिहास लेखक ही नही बल्कि साहित्यिक व्यक्ति भी इसी समुदाय के थे। सभी उलेमा मुस्लिम धर्मशास्त्र में पारंगत होते थे। उनमें से प्रत्येक को विवाद–ग्रस्त धार्मिक

विषयो पर फतवा देने का अधिकार था। तुर्की सल्तनत की स्थापना के समय से ही उलेमा वर्ग अत्यधिक प्रभावशाली था तथा सुल्तान व उसके महत्वपूर्ण कानूनी विषयो पर ही नही वरन् राज्य की नीति सम्बन्ध मे भी उनकी सलाह ली जाती थी। इसलिए धीरे–धीरे उनकी स्थिति बहत महत्वपूर्ण हो गई थी।

मुस्लिम समाज के सबसे निचले स्तर पर शिल्पी, दुकानदार, क्लर्क तथा छोटे व्यापारी सम्मिलित थे। इस सम्पूर्ण युग में मुसलमान अधिकतर नगरो मे बसते थे, गावो मे उनकी सख्या बहुत कम थी। गुलामों को भी हम इसी श्रेणी मे शामिल कर सकते हैं और इस युग में उनकी संख्या भी बहुत बडी थी। प्रत्येक शासक, सामंत तथा धनी व्यक्ति के यहॉ, चाहे वो नौकरी करता हो, या व्यवसाय, अनेक गुलाम होते थे, उनसे घरेलू टहल करवायी जाती थी और बहुत से राजकीय कारखानों में काम करते थे। मुसलमान भिखारियों की भी बहुत संख्या रही होगी क्योंकि दरिद्रता को धार्मिकता का आधार माना जाता था।

साधारणतया हिन्दू धर्मपरायण, सच्चरित्र और सात्विक विचार धारा के थे। उन्हें तत्कालीन समाज में राज्य मे कोई उच्च पद नहीं प्राप्त होता था। उन्हे हेय दृष्टि से देखा जाता था। मुसलमान उनकी स्त्रियों को प्राप्त करने के अवसर तलाश करते रहते थे, उन पर कर का भार अधिक था और उन्हें सर्वदा अपने सम्मान की सुरक्षा के लिए जागरूक रहना पडता था परन्तु कुछ महत्वपूर्ण पदो से मुख्यतया लगान विभाग से हिन्दुओं को हटाना कठिन था। इसी प्रकार हिन्दू व्यापारी, कारीगर कृषक आदि भी राज्य के लिए महत्वपूर्ण बने रहे। आवश्यकता के अनुसार हिन्दुओं को सैनिक के रूप में भी

भर्ती किया गया। परन्तु हिन्दू—समाज की स्थिति स्वय अपनी दुर्बलताओं और मुसलमानो के व्यवहार के कारण संतोषजनक न थी और जो कुछ भी हिन्दू सुरक्षित रख सके वो अपने कौशल व शक्ति के आधार पर ही रख सके।

तृतीय अध्याय
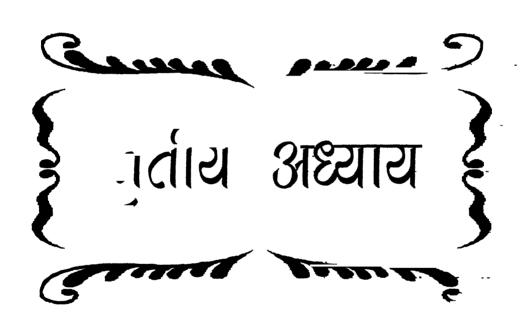
[illegible] अ[illegible]ाय

आर्थिक-प्रगति

समाज के सुचारू सचालन मे आर्थिक प्रगति का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक दृष्टि से भारत एक समद्धिशाली देश था। उत्तर ही नहीं दक्षिण भारत में भी गाव आज भी अर्थव्यवस्था के मेरूदण्ड बने रहे। महमूद गजनवी ने भारत की सम्पत्ति के लालच में भारत पर आक्रमण किये और यहां से अतुल सम्पत्ति लूटकर ले गया। 14 वीं सदी के अन्त में भारत के एक भाग से तिमूर को अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई। अलाउद्दीन और मलिक काफूर ने दक्षिण भारत से इतनी अधिक सम्पत्ति लूटी थी कि उत्तर भारत में मुद्रा का मूल्य कम हो गया।[1] इसके अतिरिक्त, भारत के विभिन्न भागो में अनेक बडे–बडे नगरों और बन्दरगाहो का होना, सभी स्थानों पर सूबेदारों और दिल्ली के सल्तनत के पश्चात् प्रान्तीय सुल्तानो अथवा हिन्दू राजाओं के पास अतुल सम्पत्ति का होना, समाज के उच्च्व वर्ग का शान–शौकत और विलासिता से जीवन व्यतीत कर पाना, सभी स्थानों पर कलात्मक दृष्टि से प्रगति होना और मुख्यतः शानदार मकबरों, मन्दिरों, महलों एव किलों का निर्माण होना तथा विभिन्न विदेशी यात्रियों द्वारा सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात और मोतियो आदि का भारत मे प्रचुर मात्रा मे प्रयोग बताया जाना आदि इस बात के प्रमाण है कि इस युग में भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न था। भारत की इस अतुल सम्पत्ति का मुख्य कारण भारत की उर्वरा भूमि,

---

1.व्ययस्यातिशयेनाहो कोशो [illegible]।
प्रार्थ्यन्ते जनाः राज्ञः सर्व [illegible]व।।

पर्याप्त प्राकृतिक और मनुष्यकृत सिचाई के साधन, भारतीय किसानो का परिश्रम और इन सुविधाओ के होने से कृषि की स्थिति अच्छी थी। परन्तु कृषि की मात्रा ही इस अतुल सम्पत्ति का कारण नही हो सकती थी। भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है परन्तु आधुनिक मशीनी युग के आरम्भ होने से पहले भारत एक उद्योगप्रधान और व्यावसायिक देश भी रहा था। भारत की बनी हुई वस्तुएँ प्राचीन काल से दक्षिण–पूर्व पश्चिम, मध्य–एशिया और यूरोप तक विख्यात थी। इस कारण भारत उद्योग और उसका व्यापार सर्वदा ही भारत के पक्ष मे रहा और यही उसकी समृद्वि का कारण रहा। इस युग मे भी यही स्थिति थी। कृषि उत्पादन के साथ–साथ भारत के उद्योग और उसका व्यापार भी बहुत अच्छी स्थिति मे था। तत्कालीन शासको ने कृषि व्यापारव्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु बिक्री प्राधिकरण की स्थापना की। [1]

कृषि–बागवानी और पशु–पालन–भारत मे प्राय सभी स्थानो पर होते थे। अधिकांश फसले वर्ष में दोबार उत्पन्न की जाती थी परन्तु कहीं–कहीं फसलें तीन बार भी उत्पन्न की जाती थी। [2] गेहूं, चावल, गन्ना, तिलहन, नील, जौ, मक्का, बाजरा, पान, अदरक, गरम मसाला और विभिन्न प्रकार के फल सब्जिया उगाई जाती थी। [3] सरसुती का चावल; कन्नौज की शक्कर, मालवा का गेहूं और पान, ग्वालियर का गेहू, मालाबार के गरम मसाले और अदरक, दौलताबाद के अंगूर और नाशपाती, विभिन्न प्रकार के

---

1 भूमिविक्रयभूर्जादि कृतचिह्न महीभुजा।
निह्नवप्रागभावाय धर्माधिकरणकृतम्।। जोनराज कृत राजतरंगिणी (श्लोक 882)

2 द्रष्टव्य– वही –(837)

सन्तरे दक्षिण भारत की सुपाडी आदि प्रख्यात थी। बारबोसा ने लिखा है कि बहमनी राज्य में कृषि, पशुपालन और फलो के बाग बहुत अच्छी स्थति मे थे और शहर ही नहीं वरन् गांव भी समृद्व थे।[1] तालू–नाद (तमिलनाडु) मे चावल बहुत अच्छा होता था। गुजरात मे भी सभी सामान बेहद सस्ते थे। विजय नगर की समृद्धि के बारे मे सभी यात्रियो ने विशद वर्णन किया है। उडीसा मे बाग और पशुपालन इतना अधिक था कि पशुओं के खरीददार नहीं मिलते थे। बारबोसा के अनुसार बंगाल मे कपास, गन्ना, चावल अदरक आदि अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न किया जाता था। दोआब का सम्पूर्ण क्षेत्र अपनी उर्वरा शक्ति के लिए प्रसिद्व था। इस प्रकार भारत के सभी क्षेत्रों मे कृषि की स्थिति बहुत अच्छी थी। कृषि के साथ–साथ दूध देने वाले पशुओं का पालन भी किसानों का एक मुख्य पेशा था। इससे भी अधिक खाद्य वस्तुएं प्राप्त होती थी। उस समय जगल व चारागाह प्रचुर मात्रा मे थे। यह सभी कुछ मिलाकर इतना अधिक था कि भारत अपने खाने और उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् भी अनेक वस्तुओं का निर्यात कर पाता था।

उद्योग –धन्धे

उद्योगो की दृष्टि से भी भारत अच्छी स्थिति में था। कपडे का उद्योग भारत का एक प्रमुख उद्योग था। सूती, रेशमी और सभी प्रकार के रंगों के वस्त्र भारत में बनाये जाते थे। मलमल,

1 General Description of Indian Agricultural Product and Trees.- Rehla of Ibnbatoota (16-19)

आरकण्डी, छीटे, रेशमी रूमाल आदि प्रचुर मात्रा मे तैयार किये जाते थे।

सूती वस्त्रोद्योग

यह प्राचीन उद्योग रहा है, जिसका विस्तार मध्यकालीन समय में भी हुआ। उस समय का यह सबसे बडा उद्योग था, जिसका विस्तार सम्पूर्ण देशमें था। इसके मुख्य केन्द्र बंगाल, गुजरात, उडीसा और मालवा में थे। सूरत, काम्बे, पटना, बुरहानपुर बाद में दिल्ली, आगरा, लाहौर, मुल्तान ठट्टा जैसे मुख्य शहर भी विशेष प्रकार के कपडे बनाने के लिए प्रसिद्ध हो गये। ढाके का मलमल सारे संसार में अपनी बारीकी के लिए मशहूर था। सोनार गांव में अति उत्तम प्रकार का मलमल तैयार किया जाता था। अबुल फजल ने अपनी पुस्तक आइन–ए–अकबरी मे खान देश के सूती कपडे का उल्लेख किया है दक्षिण का खासा और लाहौर तथा लखनऊ का चिकन भी बहुत मशहूर था। बुरहानपुर तथा मछली पट्टम में छीट के बाजार थे। सरहिन्द के कपडे की विशेषकर लाल सालू और छीट की मांग बहुत थी। समाना और सुल्तानपुर उत्तम वस्त्रों के लिए प्रसिद्व थे। दिल्ली में छींट और रजाई तैयार होती थी और आगरे में दरियो के अलावा बडे पैमाने पर सूती कपडे तैयार होते थे। जौनपुर आज भी उत्तम प्रकार की दरी तैयार करने के लिए विख्यात है। दक्षिण में पुलिकट तथा कान–पे–मेई (कोटांबतूर) सूती कपड़ा उद्योग के मुख्य केन्द्र थे। ढाका मलमल के वस्त्र के बारे मे यह खास बात थी कि इसकी बनी पोशाक एक अगूठी से निकल जाती थी। [1]

---

1. रेहला आफ इब्नबतूता (I–127 –141–42–,161)

रेशम उद्योग

कासिम बाजार, माल्दा, मुर्शिदाबाद, पटना, कश्मीर और बनारस में रेशम उद्योग के मुख्य केन्द्र थे। हालांकि गुजरात मे रेशम का उत्पादन नहीं होता था। किन्तु वहा रेशम की बुनायी का काम अच्छा होता था। काबे (खबात) की रेशम की माग इतनी अधिक थी कि अलाउद्दीन खिलजी को उसकी ब्रिकी नियंत्रित करनी पडी। रेशम से तथा रेशमी, सुनहले सोने तथा चांदी मढे सूतों से सूरत मे दरियां तैयार होती थी। बंगाल उत्तम प्रकार की रेशमी चटाइयों के लिए महशूर था। इन्हे 'शीतल पाटी' के प्रचलित नाम से पुकारा जाता था।

गुजरात भी किमखाब, बदला–कुर्ता कसीदाकारी के वस्त्र तथा किनारी आदि के लिए मशहूर था। कांबे उत्तम प्रकार के तथा मामूली कपडे और छपे कपडे तैयार करने का मुख्य केन्द्र था। यहां के रेशमी कपडो की अच्छी मांग थी। असम में भी कई प्रकार के वस्त्र तैयार होते थे। विशेषकर रेशमी कपडो के लिए मध्यकालीन समय में असम अधिक मशहूर था। उसके विकास मे 'खासी', 'नगा', 'मणिपुर' तथा 'वडोज' जैसी जनजातियों ने यथेष्ट योगदान दिया। दक्षिण में कोयबतूर के समीप रेशम उत्पादन का एक बडा केन्द्र था। कर्घे के लिए कच्चा रेशम तैयार करके उसे अनेक रंगो में रंगा जाता था तथा विभिन्न प्रकार के फूलदार वस्त्र तैयार किये जाते थे।

ऊन उद्योग

देश मे काबुल, कश्मीर तथा पश्चिमी राजस्थान मे ऊन तैयार

करने के प्रसिद्ध केन्द्र थे। किन्तु उत्तम प्रकार की ऊन तिब्बत से आती थी। कश्मीर के शाल बहुत मुलायम तथा गर्म होते थे। कश्मीर ऊनी वस्त्र तैयार करने का प्रसिद्व केन्द्र था। शाल बनाने वाले अन्य केन्द्र, लाहौर, पटना, आगरा तथा फतेहपुर सीकरी थे। फतेहपुर सीकरी मे उत्तम प्रकार की दरियां भी बनायी जाती थी। उद्योग के अन्य केन्द्र बुरहानपुर, जौनपुर, अलवर तथा अमृतसर थे।

रंगाई तथा 'कैलिको छपाई–रंगाई उद्योग तथा कैलिको छपाई भी यहां उल्लेखनीय है। लाहौर से लेकर अवध तक देश मे पर्याप्त मात्रा में नील का उत्पादन होता था तथा लोग भी चमकीले रंगों में रूचि रखते थे। दिल्ली सूती वस्त्र रगने मे विशेष रूप से बाधनी की रंगाई के लिये प्रसिद्ध था। बैना तथा समीपवर्ती क्षेत्रो की रगाई का काम अति उत्त्तम माना जाता था। दूसरे प्रकार की उत्तम रंगाई गुजरात में सरखेज तथा गोल कुण्डा मे की जाती थी। रंगाई के महत्वपूर्ण केन्द्र आगरा, अहमदाबाद, लखनऊ, फरूर्खाबाद तथा मछली पट्‌टम थे।

धातु उद्योग

भारत में मध्यकाल मे धातु का उद्योग भी काफी प्रगति पर था। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के धातु के उद्योग विभिन्न जगहो पर थे।[1] लोहा तथा इस्पात–भारतीय धातुकार्मिक लोहा, पीतल, चांदी, जस्ता, अबरख आदि विभिन्न धातुओं के उपयोग को भली भांति जानते थे। दिल्ली में लोहे का प्रयोग घरिया, तलवारे, हथियार तथा बरछों के बनाने मे किया जाता था।

1. बारबोसा (I–142–144) काम्बे और लिम्बोडरा
   बारबोसा (II–106) मध्यकालीन इतिहास

11 वी शताब्दी मे सर्वोत्तम तलवारे बनारस, सौराष्ट्र तथा कलिंजर में बनती थी। लाहौर, सियालकोट, मुल्तान तथा गुजरात और गोलकुण्डा के प्रान्त भी इसके लिए मशहूर थे। गुजरात में निर्मित जमधार तथा खपवा छुरे और धनुष तथा तीरो की बडी माग थी। सियाल कोट तथा मेवाड की तोडेदार बन्दूक सर्वोत्तम होती थी। कृषि के औजार भी, जिन्हे किसान प्रयोग मे लाते थे पूर्णतः या मिश्रित रूप से लोहे के बनते थे।

सोना और चांदी

कांसा और चांदी का काम करने वाले सुनार तथा कारीगर अन्य सभी प्रान्तो में थे। बनारस, दिल्ली, गुजरात तथा आगरा सुन्दर जडाऊ आभूषणों के लिए प्रसिद्व थे उनके यहां सोने व चांदी के बर्तनों पर बहुत सुन्दर चित्रकारी भी होती थी। त[illegible] मध्ययुग मे मन्दिरों के लिए दक्षिण मे भिन्न प्रकार के जवाहरात उपयोग मे लाये जाते थे। बादशाह, राजा तथा अमीर अनेक प्रकार के आभूषण पहना करते थे जो कि सुनारो के द्वारा बडी सुन्दरता व उत्कृष्टता से गढे जाते थे। बर्तनों पर सुन्दर जड़ाऊ चित्रकारी के लिए बीदर मशहूर था, इसमें पानदान, अबाखोराज, रकाबी छोटे, बडे प्याले तथा मोमबत्तीदान प्रमुख है। गुजरात कलमदान व कलापूर्ण सन्दूको के लिए प्रसिद्व था। बनारस ताम्बे और पीतल के सामान के प्रसिद्व था जबकि लखनऊ और दिल्ली ताम्बे के लिए। ताम्बे को सिक्को लिए भी प्रयोग में लाया जाता था।[1] मध्यकालीन सम्पूर्ण काल में ताम्बे के सिक्के अधिकांशतः प्रयोग में लाये जाते थे। ताम्बा अधिकतर उत्तर भारत के खानो से मुख्यत. बिहार के

---

1 तां खण्डयित्वा विहतैस्टंकैर्मन्नामचिह्नितैः।
व्ययनिर्वहणं कीर्तिस्थिरत्वं च जायते।। (जोनराजकृत राजतरंगिणी 431)

'सिंहभूम जिले मे' , 'कुमाऊ' तथा 'बेराट' और राजस्थान मे 'चैनपुर', 'सिघना' 'उदयपुर', 'कोटपुथली' तथा 'बबाची' मे प्राप्त होता था। रायपुर तथा नारनौल के समीप भी ताम्बे की खान विद्यमान थी।[1]

शीशा उद्योग

12 वी, 13 वी शताब्दी मे शीशे के बर्तनो का उल्लेख मिलता है। दक्षिण में विभिन्न स्थानो पर शीशे से रंग बिरगे कडे, मनके तथा प्याले बनाये जाते थे। कोल्हापुर, सतारा, शोलापुर बीदर, गोरखपुर, अहमद नगर, आदि शीशा उद्योग के लिए प्रसिद्ध केन्द्र थे।

कागज उद्योग

यद्यपि कागज के प्रयोग के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलते है परन्तु यह उद्योग सुविकसित नहीं था। अमीर खुसरो ने कोरे तथा रेशम की भांति शमी अथवा सीरियन कागजो के दिल्ली में बनाये जाने का उल्लेख किया है। चीनी यात्री महुआन, जिसने सुल्तान गियासुद्दीन आजमशाह (1389–1409) के राज्य में बंगाल का भ्रमण किया था, ने वृक्ष की छाल के समान श्वेत चमकीले कागज के निर्माण का उल्लेख किया है। इसके मुख्य उद्योग पटना, दिल्ली, राजगीर, अवध अहमदाबाद, गया, शहजादपुर (इलाहाबाद के समीप) तथा सियाल कोट थे। सर्वोत्तम कागज कश्मीर मे उपलब्ध होता था।[2]

चमड़ा उद्योग

मध्य युग में चमडे के विभिन्न प्रकार के सामान की विशेषत.

---

1 बारबोसा (I,200) (पुलचित विजयनगर) तथा वही (II–217–226) (मालद्वीप)

2- The Commercial Products of India- watt

घोडो के लिए काठी तथा लगाम, तलवार के लिए म्यान, जूते, पानी के बर्तन (मशक) आदि के अत्यधिक माग थी। बंगाल व सिंध में बने चमडे के सामान उत्तम माने जाते थे। दिल्ली मे भी एक चमडा उद्योग स्थापित था। गुजरात अपनी सोने चांदी से कढी चमडे की चटाईयो के लिए प्रसिद्व था। वहा चमडे का सामान बडी मात्रा में बनता था और उनका निर्यात अरब देशों मे होता था। इसके अतिरिक्त चीनी, मिट्टी के बर्तन, खिलौने तथा गुडिया, सुंगधित द्रव्य, पत्थर तथा काष्ठ कार्य, चटाई–टोकरी और हाथी दांत का कार्य आदि उद्योग के रूप में स्थापित था। जिससे मध्यकालीन देश के आर्थिक स्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा।

व्यापार तथा वाणिज्य

स्थल व्यापार

भारत में आन्तरिक व विदेशी व्यापार प्रचुर मात्रा मे होता था। भारत में दूरस्थ प्रदेशों को जोडने वाली सडके पर्याप्त मात्रा में थी और विभिन्न नगर, भिन्न –भिन्न वस्तुओ की व्यापारिक मण्डियां बनी हुई थी। दिल्ली सुल्तानों की राजधानी थी अत वह विभिन्न स्थल मार्गों द्वारा सल्तनत के विभिन्न मार्गों से जुडी हुई थी, जिसके द्वारा केवल व्यापार ही नही होता था अपितु समुद्र तट तक अथवा भारत की स्थल सीमा तथा वस्तुओं को पहुंचा कर उन्हें विदेशों मे भेजा जाता था।

समुद्री व्यापार

पुरातन समय से ही भारत के बाह्य देशों के साथ सम्बन्ध थे।

भारत को पश्चिम देशो के साथ मिलाने वाले दो मुख्य सीधे समुद्री मार्ग थे एक तो फारस की खाडी वाला तथा दूसरा लाल समुद्र वाला। फारस की खाडी वाले समुद्री मार्ग से ही व्यापार ज्यादा सुलभ था, ये रास्ता ईराक मे बगदाद से चीन मे कैटन तक जाता था। काबे, किलन तथा कालाकर जैसे बहुत से बदरगाहो से भारतीय सामान लाया जाता था। भारतीय माल वहां से अफ्रीका के समुद्री तट दश्मिक और सिकदरिया तथा यूरोप के विभिन्न देशो को ले जाया जाता था। इन बदरगाहो से माल चीन, लका, इण्डोनेशिया तथा भारतीय टापुओ को जाता था। भारत मे अनेक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह थे जहां से विश्व के अनेक मार्गों से बहुत बडी संख्या में व्यापारी आते थे। अफगानिस्तान, फारस तथा मध्यएशिया के साथ मुल्तान, कोटा खैबर पास के रास्ते से स्थल मार्ग व्यापार के अतिरिक्त माल कारोमण्डल समुद्री तट के रास्ते से फारस ले जाया जाता था।[1]

निर्यात

मध्यकाल मे भारतीय निर्यात की मुख्य वस्तुए रूई से बनी वस्तु, अनाज, तेल, बीज, ज्वार, चीनी, चावल, कपूर, लौंग, इलायची, केसर, नारियल, अफीम, काली मिर्च, लहसुन और जानवरों की खाले भी थीं।[2]

विदेशो मे भारत के रूई से बने वस्त्रो व वस्तुओ की बहुत मांग थी। यह माग, जावा, सुमात्रा, बोडा, मलाया, बोर्नियो, पेगु, स्याम बेटम आदि पूर्वी देशों तक ही सीमित नहीं थी। हालैण्ड आदि में भी इसकी विशेष मांग थी।[3]

---

1. इब्नबतूता (यात्रा–विवरण) II, 177, 196–199, 231।
2. बारबोसा (यात्रा–विवरण)I, 92–94, 55–56, 64,–65।
3 इब्नबतूता (यात्राविवरण) II, 180, XVI–616–17

हालैण्ड तथा जर्मनी के अतिरिक्त इग्लैण्ड मे भी भारत के सूती वस्त्रो की बहुत माग थी। उत्तम प्रकार की मलमल फारस तथा अरब देशो को विशेषकर मिस्त्र को निर्यात होता था। पुर्तगालियो ने अपने व्यापार का विस्तार उत्तरी पश्चिमी अफ्रीका तक किया था। तथा भारतीय माल की वहां बडी ब्रिकी थी। सूरत बनारस, बगाल तथा अहमदाबाद मे बनी सिल्क, यूरोप वर्मा तथा मलाया को निर्यात होती थी। अफीम जो अधिकतर बिहार तथा मालवा मे होती थी जावा, चीन, मलाया, अरब को समुद्री मार्ग से निर्यात होता था।

आयात

विदेशों से आयात की जाने वाली मुख्य वस्तु बहुमूल्य धातु थी। 'इण्डियन इकोनामिक लाइफ–पास्ट एण्ड प्रेजेट' नाम की पुस्तक के लेखक ब्रजनारायण ने वान ट्रबिस्ट का हवाला देते हुए यह सूचित किया है कि यद्यपि भारत मे सोने चांदी की खान नही थी फिर भी ये दोनों धातु विदेशो से आयात किये जाते थे इनके निर्यात पर रोक थी।

सोना मुख्यतः द्वीप, समूहो चीन, जापान, मलक्का तथा अन्य सीमावर्ती देशो से, मूंगा, पेगू से तथा मोती, विभिन्न प्रकार के रत्न फारस तथा अरब से आते थे।[1] सोने चादी का आयात लाल सागर के रास्ते से होता था। पारा लिस्बन से आयात होता था। सीसा उत्तम प्रकार के ऊनी कपड़े सिल्क, साटन, तथा मखमल के कपडे यूरोप से आते थे।

थल सीमाओं द्वारा व्यापार

भारत मध्य एशिया और अ[illegible]न मे सूखे मेवे, ताजे फल,

1 बारबोसा – इण्डियन ट्रेड आफ [illegible] (II, 77) तथा (I–43)

हीग, लाल पत्थर आदि का आयात पर्याप्त मात्रा मे करता था। हिमाचल के राज्यो तथा तिब्बत से कस्तूरी, चीनी लकडी, खेतचीनी, अमीरा (आखो की मूल औषधि), बढिया ऊन, सोना, ताबा, सीसा, शहद, सोहागा, मोम से लदे काफिले आते थे। मगोल से सफेद व छपे हुए कपडे, सिल्क तथा कढी हुई वस्तुए, बूटेदार कपडे, गहरे लाल रग, मूगे तथा अम्बर, छोटे हीरे तथा अन्य वस्तुएँ यूरोप से आती थीं। नेपाल पशु तथा सीग, कस्तूरी, सोहागा, जडी-बूटी, इलायची निर्यात करता था बदले मे तैयार वस्त्र, नमक, धातु चीनी, मसाले आदि आयात करता था। घोडों का आयात अत्यन्त महत्वपूर्ण था।[1] तुर्किस्तान मे अजाक लोग भारत को निर्यात करने के लिए घोडे विशेष रूप से पालते थे। इब्नबतूता (अरब यात्री) ने वर्णन किया है कि अदन, क्रीमिया तथा अजाक से अच्छी नस्ल के घोडे भारत को भेजे जाते थे। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार इसकी समृद्धि का एक बडा आधार था।

व्यापार सन्तुलन

इन बातो को देखते हुए व्यापार का सन्तुलन भारत के हक मे था। समस्त देशो के व्यापारी भारतीय बन्दरगाहो पर आते थे तथा उपयोगी वस्तुओं, जड़ी-बूटियों और गोंद के बदले सोना तथा रेशम और चांदी के सिक्के देते थे। भारत के समुद्री व्यापार में अरब तथा तुर्की के व्यापारियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। खुरासानी व्यापारी चीन, फारस, अरब तथा भूमध्य स्थित देशों के साथ हमारे थल व्यापार में बडे सक्रिय थे। हमारे व्यापार की बढोत्तरी के लिए विदेशी व्यापारी ही मुख्य रूप से उत्तरदायी थे।

1 इब्नबतूता (यात्रा-विवरण) II, 180, (616-17)
बारबोसा (यात्रा-विवरण) I, 7-8, 22-24, 31-33

आन्तरिक व्यापार

मध्ययुग के भारत में आन्तरिक व्यापार के बडे विस्तृत होने के विषय में विदेशी यात्रियो के वर्णन तथा अन्य समकालीन साहित्य से ज्ञात होता है। प्रत्येक गाव एक छोटा बाजार होता था, इसके अतिरिक्त वार्षिक तथा समय–समय पर मेलों के द्वारा खूब व्यापार होता था। इसके अतिरिक्त फेरी लगाकर माल बेचने वाले व अन्य प्रकार के छोटे व्यापारी थे जो हर प्रकार की चीजे तथा मक्खन, चीनी, शहद, नमक व दैनिक उपयोग की वस्तुओं की ब्रिकी द्वारा उपभोक्ताओं की आवश्यकता पूर्ति करते थे।

व्यापार का स्वरूप

देश के विभिन्न भागो के बीच व्यापार काफी अच्छा चलता था जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। बंगाल, पटना, आगरा, लाहौर, गुजरात, सिन्ध, कश्मीर, मालाबार, [illegible]नगर, मालवा, राजस्थान आदि के बीच व्यापारिक सम्बन्ध थे।

इन क्षेत्रों में बंगाल से खाद्य वस्तुएं (चावल, चीनी, मक्खन) नियमित रूप से कोरोमण्डल, केप कामरिन के क्षेत्र से होती हुई करांची तक जाती थी। केरल भी अफीम मगाता था। पटना को चावल व सिल्क के बदले में गेहू, चीनी तथा अफीम प्राप्त होती थी। आगरा देश तथा विदेशों में उत्तम प्रकार नीलों के लिए बहुत प्रसिद्व था। यहां से गेहूं भारत के सभी बन्दरगाहों तथा विदेशों को भेजा जा सकता था। व्यापार के अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र लौहार तथा मुल्तान थे। वास्तव में काबुल, बन्दरगाह, तथा फारस से होने

वाला समस्त स्थल व्यापार इन शहरो से होकर होता था। सर्वोत्तम ऊँट मुल्तान मे होते थे।

पुरातन समय से ही गुजरात वाणिज्य का बडा केन्द्र था। इसके प्राकृतिक संसाधनो ने इसे भारत के धनी तथा प्रगतिशील सूबों में से एक बना दिया। यहा से कपडे, शोरा आदि गुजरात के मुख्य बन्दरगाह काम्बे द्वारा दक्षिण पूर्व एशिया भारत के दूसरे भागों मे भेजा जाता था। सिंध सल्तनत काल से ही चावल, चीनी, गन्ना, इमारती लकडी के बदले में गेहूँ, जौ, सूती कपडे तथा घोड़े सम्पूर्ण भारत में भेजता था। इसी प्रकार कश्मीर, मालाबार, विजय नगर भी दैनिक उपयोग की वस्तुओं के व्यापार का आदान प्रदान करते थे। इस प्रकार मध्ययुग के भारत मे लगभग सभी नगरों विशेष राज्यो की राजधानियों के बीच लगभग सभी उपयोगी वस्तुओ का व्यापार खूब प्रचलित था।

तकनीकी उन्नति

इस काल में भारत ने कुछ तकनीकी उन्नति की, जिसने उसकी आर्थिक उन्नति में सहयोग प्रदान किया। यह सर्वविदित है कि गहरे कुओं से सिचाई के लिए पानी निकालने के लिए रहट और नहरों का निर्माण तथा प्रयोग दिल्ली सल्तनत के युग मे ही आरम्भ हुआ। इससे सिंचाई मे सुविधा हुई और कृषि की उन्नति हुई। [1] इस काल में कालीन बुनने की कला में भी सुधार हुआ। रेशम के कीड़ो की खेती को शुरू किया गया। इससे अच्छे

---

1 सनदीमातृका: कृत्वा धरणीर्देवमातृका ।
अग्रहराननुक्ष्मापो द्विजेभ्यो यददात्सदा।।
जोनराजकृत राजतरंगिणी (879)

कालीन बुनने और रेशम के उत्पादन मे वृद्वि हुई। इन सभी नये अन्वेषणो ने भारत को धनवान बनाने मे सहायता दी। विद्वानो के अनुसार कागज का उत्पादन भी दिल्ली सल्तनत के युग मे प्रारम्भ हुआ जिसने शिक्षा और अर्थव्यवस्था को गम्भीर रूप से प्रभावित किया।

दिल्ली सल्तनत के युग मे हुई तकनीकी प्रगति ने भारत के आर्थिक विकाल मे जो भागीदारी निभायी उसके प्रमाण थे नगरों की संख्या में वृद्वि, मुद्रा का अधिकाधिक प्रचलन जो व्यापारिक वृद्वि का भी प्रमाण है और बडी संख्या मे विभिन्न प्रकार के कारीगरों की प्राप्ति जो भारतीय आर्थिक प्रगति की समृद्वि तथा विकास में सहायक हुई।

सिक्के

भारत मे तुर्कों के छः सदियो के राज्यकाल में सिक्के पर्याप्त संख्या में जारी किये गये। परन्तु उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण सिक्का जो समस्त सल्तनत काल में जारी किया गया था, 'जीतल' था जो बाद में प्रचलित पैसे के बराबर था। चादी का सिक्का जो 'टक' कहलाता था, सुल्तान अल्तमश (1211–1326) ने जारी किया था। इस सिक्के का वजन एक तोला होता था। यह सिक्का सांड तथा घुडसवार के सिक्के की तरह था। इसे 'दिल्ली वाल' कहा जाता था। 'दिल्ली वाल' सिक्के मुसलमानो के आगमन के समय तक जारी थे। तथा चांदी व ताम्बे के बने होते थे, जिनका वजन '58' ग्रेन होता था। एक टंक में '64' जीतल होते थे। उसके बाद हस्तकणी जैसे अन्य छोटे छोटे सिक्के होते थे। जो रूपये के आठवे भाग या दो आने के बराबर होते थे। बहलोल लोदी ने (1451–89)'बहलोली' सिक्का जारी किया था। जो

शेरशाह के 'दाम' जैसा था। यह 'टक' का 40 वा भाग होता था। बाद मे सिकन्दर लोदी ने ताबे का टक जारी किया था। ताम्बे के इन 'बीस टको' का चादी का एक टक होता था। स्वर्ण की मोहरें भी होती थी पर सिक्को के रूप मे उनका चलन प्राय. नही के बराबर था।

इसी प्रकार कृषि उत्पादन, उद्योगो की उपस्थिति और आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार ने भारत को एक समृद्वशाली देश बनाया। दिल्ली के सुल्तानो तथा प्रान्तीय सूबेदारो और हिन्दू राजाओ के पारस्परिक युद्वो के होते हुए थी भारत अपने को सम्पन्न रख सका था। सल्तनत काल के अधिकाश शासकों की उदासीनता के बावजूद भी भारत की यह सम्पन्नता आश्चर्यजनक थी, परन्तु भारत की इस आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य लाभ शासक और व्यापारी वर्ग ने प्राप्त किया था। उन्होंने इसे वैभव और विलासिता के समस्त साधनों को अपने शौक को पूरा करने के लिए एकत्र कर लिया था।

जन साधारण की स्थिति शोचनीय तो नहीं पर बहुत अच्छी न थी। वे अत्यधिक परिश्रम के बावजूद भी किसी प्रकार साधारण स्तर का जीवन व्यतीत करते थे। इसी कारण सूखा और अकाल [1] पडने पर जानमाल का काफी नुकसान होता था। और राज्य को दान दक्षिणा अथवा तकावी कर्जो को माफ करने की आवश्यकता पड जाती थी। निष्कर्ष ये कि सब मिलाकर मध्ययुग का आर्थिक स्तर अत्यधिक ऊंचा था फलस्वरूप भारत को सोने की चिडिया की संज्ञा से नवाजा गया था।

1.द्रष्टव्य –वही (358)
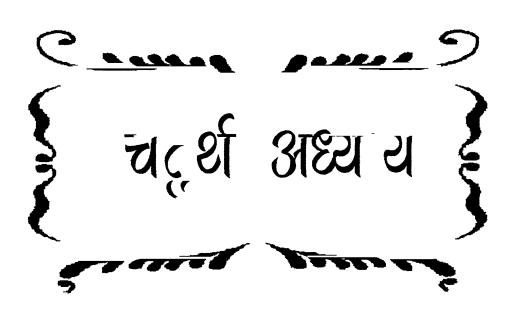
चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

राजनीतिक संस्थाएँ

'प्रशासनिक एवं न्याय व्यवस्था'

राज्य का सिद्धांत

मध्यकालीन इस्लाम का राजनीतिक सिद्धांत कुरान की शिक्षाओ, मुहम्मद साहब की परम्पराओ और नजीरो व यूनानी विचारो पर आधारित था। ये तीनो मिलकर मुस्लिम धर्मशास्त्र बने जो बाद मे मुस्लिम न्यायविदों के द्वारा विस्तृत व विकसित किया गया। इसी दृष्टिकोंण को अपना कर राजनीतिक विचारों और संगठनो ने अपना कानूनी आधार स्थापित किया। कुरान ने सामाजिक जीवन और राजनीतिक जीवन के विस्तृत सिद्धांत घोषित किए। कुरान ने सभी मुसलमानों की पारस्परिक घनिष्ठता एव एकता पर बल दिया और जाति से अलग होने की निदा की। इसमे सभी मुसलमानों को एक सवैधानिक सत्ता के आदेशो का पालन करने की अनिवार्यता बताई गई।[1] शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए कुरान ने यह निर्धारित किया कि मनुष्य का प्रथम कर्तव्य ईश्वर के प्रति है। अतः किसी भी मुस्लिम धर्मानुयायी को ऐसी सत्ता के आदेशो को नही मानना चाहिए, जो धर्मोपदेश के विरुद्ध हो।[2] मुहम्मद साहब ने अपने अनुयायियो के शिक्षक और नेता के रूप में

---

1. कुरान III- 102 XL-II, 38
2. कुरान V.2

धीरे–धीरे अपने को सत्ता का प्रमुख बना दिया। उनके मृत्यु के बाद मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगो ने सत्ता का सचालन उनके उपदेशों और हिदायतों के अनुसार चलाने के लिए खलीफा की नियुक्ति की।

इस्लाम धर्म के अनुसार 'शरीयत' प्रधान है। खलीफा भी उसके आधीन होता है। इस कारण सभी मुसलमान शासक 'शरीयत' के आधीन होते है और उसके कानूनो के अनुसार कार्य करना उनका प्रमुख कर्तव्य होता है। इस दृष्टि से खलीफा और सुल्तान धर्म के प्रधान नहीं थे बल्कि 'शरीयत' के कानून के आधीन राजनीतिक प्रधान मात्र थे जिनका कर्तव्य धर्म के कानूनो के अनुसार शासन करना था। दिल्ली सुल्तान भी इसी प्रकार के शासक थे। वे सभी राजनीतिक प्रधान तो थे किन्तु उनका कर्तव्य इस्लाम धर्म और कुरान के कानूनों के अनुसार शासन करना था। अतएव दिल्ली सुल्तानों पर नीति और धर्म का प्रभाव रहा। तत्कालीन कश्मीर के शासक जैनुल–आब–दीन को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते हुए, सल्तनत काललीन शासक के समान उसे भी सत्ता का प्रधान स्वीकारते हुए जोनराज ने राजतरंगिणी नामक महाकाव्य में उल्लेख किया है। [1] शासकों का प्रमुख कर्तव्य इस्लाम धर्म के कानूनों का पालन करना था। इसी कारण उनके शासन में (कतिपय शासकों को छोडकर) उलेमा वर्ग का प्रभाव रहा तथा इस्लाम धर्म एक राज्य की तरह माना जाता रहा यद्यपि व्यवहार के रूप में उसका प्रयोग संभव नहीं रहा।

दिल्ली सुल्तानों में से अधिकांश शासकों ने अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारा और अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति उससे ली। इस

---

1 नष्टान् योजयितु भूय. कश्मीरानिच्छतो हरेः।
अवतारस्त्वमेतत्ते सिध्यत्येव चिकीर्षितम्।।
जोनराजकृत राजतरंगिणी (935)

दृष्टि से वे अपने को अब्बासी खलीफाओ के आधीन मानते थे। केवल 'अलाउद्दीन खिलजी' ने यह कार्य नही किया, जबकि 'कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी' ने तो स्वय खलीफा की उपाधि ग्रहण की। मुहम्मद तुगलक ने आरम्भ मे खलीफा को कोई मान्यता नही दी परन्तु बाद के समय में उलेमा वर्ग को संतुष्ट करने के लिए उसने खलीफा को प्रधान मान लिया। परन्तु दिल्ली– सुल्तानो ने खलीफा को केवल नाममात्र का प्रधान माना था। अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारने अथवा अपने सिक्कों पर खलीफाओ के नाम अकित कराने से उनकी व्यावहारिक स्थिति मे कोई अन्तर नहीं आया था और वे वास्तविकता में स्वतंत्र शासको की भांति व्यवहार करने लगे। खलीफा को नाममात्र का प्रधान मानने मे उनका गतव्य अपनी सुन्नी प्रजा और जनता मे प्रभावशाली उलेमा– वर्ग का विश्वास एवं वफादारी प्राप्त करना था।

के-ीयशासन

1 सुल्तान

केन्द्रीय शासन का प्रधान सुल्तान था। दिल्ली सल्तनत के युग मे उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नही था, जैसा कि हम मुगल काल में पाते है जिसमें उत्तराधिकार पैतृक आधार पर निश्चित था अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों का ही सिंहासन पर अधिकार हो सकता था। परन्तु फिर भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय से एक ऐसी परम्परा बनी थी, जिसके अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री को सिंहासन प्राप्ति का अधिकार था। सुल्तान को अपने बच्चों में से किसी को भी अपना

उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, वयस्क हो अथवा अल्पायु। इस आधार पर पैतृक सुल्तान के द्वारा नामजद किये जाने के अधिकार को मान्यता थी। इसी आधार पर रजिया सुल्तान, शिहाबुद्दीन खिलजी और तुगलक शाह को सिहासन प्राप्त हुआ। इसमे स्त्रियो और अल्पायु शहजादो के सिहासन पर बैठने और शासन करने के प्रयोग असफल हुए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पैतृक अधिकार को उसी समय स्वीकार किया जाए जब उत्तराधिकारी योग्य हो। अयोग्य उत्तराधिकारी होने की स्थिति से सरदारो ने सुल्तान को चुनने की प्रणाली का प्रयोग किया। सुल्तान इल्तुतमिश, रजिया के सभी भाई, कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी और फीरोज तुगलक सरदारों की सम्मति से चुने गए सुल्तान थे। इसके अतिरिक्त तलवार की शक्ति भी सिंहासन के अधिकार को निश्चित करती थी अलाउद्दीन खिलजी, खिज्रखाँ और बहलोल लोदी ऐसे ही शासक थे।

दिल्ली सुल्तानो ने अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन व्यवस्था को स्थापित किया। सुल्तान कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय करने मे प्रधान था। राज्य की सेना का सर्वोच्च सेनापति भी वही था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति करने, उन्हें हटाने, उपाधियों का वितरण करने आदि अधिकार उसी के थे। अधिकारों का वास्तविक प्रयोग उसकी सैनिक शक्ति पर निर्भर करता था। सुल्तान के दुर्बल होने की स्थिति मं सरदारो का शासन मे प्रभाव बढ जाता था। उलेमा वर्ग का प्रभाव भी शासन में था। केवल अलाउद्दीन खिलजी, मुबारक शाह खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासक ही उसके

प्रभाव से मुक्त रह सके थे। शासन–व्यवस्था, शान्ति की स्थापना और बाह्य आक्रमणो से सुरक्षा के अतिरिक्त सुल्तान का महत्त्वपूर्ण कार्य इस्लाम धर्म की सुरक्षा और उसका विस्तार करना था।

2. मन्त्री व अन्य अधिकारी

शासन में सुल्तान की सहायता के लिए विभिन्न मत्री और अन्य अधिकारी होते थे जो शासन कार्य मे सुल्तान की मदद करते थे–

नाइब (नाइब–ए–मामलिकात)–

इस पद को रजिया के पश्चात् बहराम शाह के समय में प्रारम्भ किया गया था। बहराम शाह के सरदारो ने शासन शक्ति को अपने हाथो मे रखने के लिए अपने मे से हर एक को नाइब का पद बाटा। इस कारण दुर्बल सुल्तानों के समय में ही इस पद का महत्त्व रहा। नाइब का पद सुल्तान के बाद माना जाता था और इसे राजा के वजीर से भी श्रेष्ठ समझा जाता था। शक्तिशाली शासकों ने या तो इस पद को रखा ही नहीं या फिर अलाउद्दीन जैसे शासकों ने अपने किसी सरदार को सम्मान देने के लिए यह पद उसे प्रदान किया।

वजीर –

राज्य का प्रधान मंत्री वजीर कहलाता था। वजीर मुख्यत. राजस्व विभाग (दीवान–ए–वजारत) का प्रधान होता था। इस दृष्टि से वह लगान कर व्यवस्था, दान, सैनिक व्यय आदि सभी की देखभाल करता था। यदि राज्य मे 'नाइब' का पद नहीं होता था तो वजीर ही सुल्तान के बाद राज्य का सबसे बडा अधिकारी होता था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शासन पर दृष्टि रखना,

सुल्तान की बीमारी अथवा राजधानी से अनुपस्थित होने पर नियुक्ति करना आदि अधिकार उसे प्राप्त थे। वजीर की सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारी के अतिरिक्त नाइब–वजीर, मुसिफ–ए–मुमालिक, मुस्तौफी–ए–मुमालिक आदि बडे अधिकारी भी होते थे। मुसिफ–ए–मुमालिक का कार्य प्रान्तो व अन्य विभागों के प्राप्त हिसाब का लेखा–जोखा रखना था। और मुस्तौफी ए– मुमालिक इस हिसाब की जांच करता था।

दीवान –ए– वजारत –

यह एक बडा विभाग था और उसका एक बडा सचिवालच था जिसके अन्तर्गत हजारो छोटे –बडे अधिकारी और साधारण कर्मचारी कार्य करते थे।[1]

अरीज –ए–मुमालिक –

यह सेना विभाग (दीवान–ए–अर्ज) का प्रधान था। वह सैनिको की भर्ती, उनकी रसद की व्यवस्था, उनके निरीक्षण की व्यवस्था, घोडों को दागने व सैनिकों की हुलिया लिखे जाने की व्यवस्था करता था। वह राज्य का स्थायी सेनापति नहीं था और सुल्तान समय–समय पर विभिन्न युद्धों के लिए अलग–अलग सेनापति नियुक्ति करता था।

दबीर –ए–खास (अमीर –मुशी) –

यह शाही पत्र व्यवहार विभाग (दीवान–ए–इशा) का प्रधान था। सुल्तान के आदेशों को राज्य के विभिन्न भागों में भेजना और सुल्तान की सभी प्रकार की डाक को देखना, उसके उत्तर तैयार करना, उसे भेजना आदि उसी का कार्य था, उसकी सहायता के लिए अनेक दबीर (लेखक) होते थे।

---

1 एवं बुद्धिप्रकर्षेण व्यव[illegible]।
अमात्यपर्षदो– हर्षश्चित्तोत्कर्षमजीजनत।।

दीवाने–रसालत –

यह सुल्तानो की विदेश वार्ता और कूटनीतिक सम्बन्धो की देखभाल करता था। विदेशी पत्रव्यवहार और राजदूतो का आदान –प्रदान तथा उनकी देखभाल उसका उत्तरदायित्व था।

सद्र –उस–सुदूर –

यह धर्म विभाग का प्रधान था। इस्लाम धर्म के कानूनो का प्रजा में प्रसार करना, उनका पालन कराना और मुसलमानों के विशेष हितों की सुरक्षा करना उसका उत्तरदायित्व था। 'जकात' नामक कर से वसूल किये गये धन पर उसका अधिकार होता था। योग्य और धार्मिक व्यक्तियों को आर्थिक सहायता तथा जागीरें उसकी सलाह पर दी जाती थी। मस्जिदों, मकतबों और मदरसो को आर्थिक सहायता भी वही देता था। शाही–खैरात (दान) की व्यवस्था भी वही करता था।

काजी–उल–कजात –

यह न्याय विभाग का प्रधान था। यद्यपि उसके न्यायालय से बडा न्यायालय सुल्तान का था। [1] किन्तु राज्य का प्रमुख काजी होने के नाते मुकदमें उसकी अदालत में आरम्भ किये जाते थे और निम्न काजियों के निर्णय पर भी वह विचार कर सकता था। [2] अधिकांशतः काजी–उल–कजात और 'सद्र उस सुदूर' के पद एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे।

वरीद–ए–मुमालिक–

---

1 जोनराजकृत राजतरंगिणी (143)

2. प्राड्विवाक. क्षमाबुद्धिर्युक्त दण्डत्वरजक।
राज्ञोऽव्हृतप्रजाभारं गणनापति गौरकं.।। जोनराजकृतराजतरंगिणी (959)

जिन सुल्तानो ने गुप्तचर विभाग का सगठन किया था उसका यह प्रधान होता था। विभिन्न गुप्तचर, सन्देशवाहक और डाक चौकियॉ उसके अधीन होती थी।

समय–समय पर सुल्तान अपनी इच्छा से अन्य विभागो और उनके पदाधिकारियों की नियुक्ति भी करते थे, जैसे मोहम्मद तुगलक ने दीवाने–अमीर–कोही (कृषि विभाग के प्रधान) की नियुक्ति की थी। इसके अतिरिक्त, सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक और महल के अधिकारी होते थे। इनमें से 'वकील–ए–दरमहल' शाही कर्मचारी की देखभाल करता था 'बारबक' दरबार की शान–शौकत और रास्तों की देखभाल करता था। 'अमीर–ए–हाजिब सुल्तान से मिलने वालो की देखभाल करता था। 'अमीर–ए–शिकार' शाही शिकार का प्रबन्ध करता था, 'अमीर ए–मजलिस' शाही उत्सवों और दावतों का प्रबन्ध करता था। 'सर–ए–जहांदार' सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रधान होता था।

ये पद मन्त्रियो के पद के समान तो- न थे परन्तु इनमे से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा अराम से सम्बन्धित था। इस कारण इन पदो पर अत्यधिक [illegible] व्यक्तियो की नियुक्ति की जाती थी और कभी–कभी इनमें से कोई पदाधिकारी सुल्तान के व्यक्तिगत सम्पर्क में होने के कारण मन्त्रियो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता था।

- क्ताओं (प्रान्तों) का शास-

शासन की सुविधा और परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार

राज्य को छोटी इकाइयो मे बाटा गया था। उस समय प्रान्तो को साधारणत. 'इक्ता' के नाम से पुकारते थे। उस युग मे 'इक्ताओ' की न तो सख्या निश्चित की जा सकी थी और न तो सख्याप्रबन्ध समान हो सका था। बडे 'इक्ताओ' के प्रधान को मुक्ती, नाजिम, नाइब सुल्तान अथवा वली के नाम से प्रकारा जाता था। अलाउद्दीन के समय मे ये इक्ता दो प्रकार के हो गये। प्रथम वे 'इक्ता' थे जो पहले से ही दिल्ली–सल्तनत के अधीन चले आ रहे थे और द्वितीय वे इक्ता थे जिनको जीतकर उसी समय मे दिल्ली सल्तनत के अधीन किया गया था। दूसरे प्रकार के इक्ताओं मे 'मुक्ती' अथवा 'वली' को कुछ अधिक सैनिक अधिकार थे जिससे वह अपने 'इक्ताओं' को दिल्ली सल्तनत के पूर्ण प्रभाव मे ले सके। इसके अतिरिक्त हिन्दुओ (दक्षिण–भारत) के वे राज्य थे जिन्होंने सुल्तान की अधीनता स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना आरम्भ किया था यद्यपि अपने आन्तरिक शासन में वे स्वतंत्र थे। अपने–अपने इक्ताओं मे मुक्ती अथवा वली को वे समस्त अधिकार प्राप्त थे जो सुल्तान को केन्द्र पर प्राप्त थे और उसी प्रकार शासन का उत्तरदायित्व भी उन पर था। वह प्रत्येक वर्ष अपनी आय और व्यय की सूचना सुल्तान को देते थे और बचे हुए धन को केन्द्रीय खजाने में जमा कराते थे। सुल्तान की आज्ञा के बिना वो कोई कार्य नहीं कर सकते थे। इनके सभी कार्य केन्द्र के अधिकार के अन्तर्गत होते थे।

तेरहवी सदी तक इक्ता से छोटी कोई इकाई न थी, परन्तु उसके पश्चात् 'इक्ताओं' को 'शिको' में विभाजित किया गया, जहाँ का प्रमुख अधिकारी 'शिकदार' होता था। जो एक सैनिक अधिकारी होता था। 'शिकों'

को 'परगनो' में विभाजित किया गया, जहा एक 'आमिल' एक 'मुशरिफ' (उसे अमीन या मुसिफ कहते थे) एक खजाची और दो क्लर्क मुख्य अधिकारी होते थे। 'आमिल' परगने का मुख्य अधिकारी था। 'मुशरिफ' लगान निश्चित करने वाला अधिकारी था। 'परगना' शासन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई समझा जाता था क्योकि वहां राज्य का सीधा सम्पर्क किसानो से था। शासन की सबसे छोटी इकाई गांव थे; जो स्वशासन और पैतृक अधिकारियों की व्यवस्था के अन्तर्गत थे गावो के चौकीदार, पटवारी, चौधरी, खूत, 'मुकदम' आदि पैतृक अधिकारी थे जो शासन को लगान वसूल करने मे सहायता देते थे जिन्हे अलाउद्दीन के समय के अतिरिक्त सम्पूर्ण सल्तनत काल में कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थी।

इक्ता व्यवस्था–

दिल्ली सुल्तानों की इक्ता व्यवस्था उनके शासन की मुख्य विशेषता रही है। भारत मे प्रचलित सामन्ती प्रथा को नष्ट करने और साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशो को केन्द्र से जोडने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूपमें 'इक्ता प्रणाली' का प्रयोग किया गया। उसका प्रारम्भ सुल्तान इल्तुमिश के शासन काल मे हुआ। सुल्तान ने अपने दूरस्थ प्रदेशों में जिन बड़े सैनिक अधिकारियो की नियुक्ति की थी, उनको वेतन देनेकी प्रथा मे यह व्यवस्था आरम्भ हुई। इन सैनिक अधिकारियों को एक निश्चित–भूमि इक्ता प्रदान किया गया, जिससे होने वाली वार्षिकी से ये अपना वेतन प्राप्त करते थे। छोटे भूमि क्षेत्र के अधिकारियों को इक्तादार कहा जाता था और प्रान्तीय सूबा स्तर के अधिकारी, 'वली', मुक्ता, मलिक या अमीर पुकारा जाता था। इन्हे प्रशासकीय

व अन्य अधिकार भी प्रदान किये गये जबकि छोटे इक्तादारो को ये अधिकार नही प्राप्त थे।

अलाउद्दीन खिलजी के समय मे दीवान–ए–वजारत ने इक्ताओ की आय पर नियंत्रण रखा। गियासुद्दीन तुगलक ने इस सम्बन्ध पर एक संशोधन किया प्रत्येक इक्तादार को सैनिक रखने को बाध्य किया जाय तथा वेतन स्वयं इक्ता की आय से वहन किया जाय। इक्ता का पद पैतृक नहीं था ये सुल्तान के ऐसे सैनिक अधिकारी थे, जो अपने–अपने इक्ता में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करते थे। इसके लिए दो अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। जिनको 'अमीर' और 'वली–उल–खराज' कहा जाता था। इनका स्थानारन्तण भी होता था। यदि सुल्तान शक्तिशाली होता था तो 'इक्ता' उसकी शक्ति का आधार बन जाते थे और दुर्बल होने पर यही सम्राज्य के विघटन और राजसत्ता के परिवर्तन का कारण बन जाते थे।

इस प्रकार दिल्ली के सुल्तानो की यह इक्तादारी व्यवस्था, राजपूत शासकों की सामन्ती प्रथा से भिन्न थी। मूलतया अपने बडे सैनिक अधिकारियों को वेतन देने के लिए भू–क्षेत्र प्रदान कर देने से इसका प्रारम्भ हुआ। बाद में यह दूरस्थ प्रदेशों को प्रशासकीय रूप मे केन्द्र से बांधे रखने में सहायक सिद्ध हूई। केन्द्र की आय में वृद्धि करने में, जिससे उसकी सैनिक शक्ति मे वृद्धि सम्भव हुई, और दिल्ली सल्तनत का विस्तार हो सका।

राजस्व–कर–व्यवस्था

दिल्ली के सुल्तानों के समय में कुछ विशेष करों के अतिरिक्त

निम्नलिखित पाच कर मुख्य थे।–

1 उश्र–

यह मुसलमानो से लिया जाने वाला भूमि कर था। जिस भूमि पर प्राकृतिक साधनों से सिचाई होती थी वहा से पैदावार का 10 % भाग और जिस भूमि पर स्वय के साधनो से सिंचाई होती थी वहां से पैदावार का 5 % भाग भूमि कर के रूप मे लिया जाता था।

2 खराज–

यह गैर मुस्लिमों पर भूमि कर था जो पैदावार के एक तिहाई से लेकर आधे तक विभिन्न सुल्तानो ने लिया।

3 खम्स–

यह लूटे हुए धन, खानों अथवा भूमि में गडे कुछ खजानों से प्राप्त सम्पत्ति का 1/5 भाग था, जिस पर सुल्तान का अधिकार था। शेष भाग पर उसके सैनिक, अधिकारियों अथवा खजाने को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अधिकार होता था। परन्तु फीरोज तुगलक को छोडकर अन्य सभी शासको ने 4/5 हिस्सा स्वयं अपने लिए रखा।

4. जकात–

यह मुसलमानों पर धार्मिक कर था, जो केवल धनवान मुसलमानों से ही लिया जाता था और उनकी आय का ढाई प्रतिशत होता था। इस कार्य को केवल मुसलमानों के हितार्थ ही व्यय किया जाता था।

5 जजिया–

यह गैर मुसलमानों पर धार्मिक कर था। इस्लाम के कानून के अनुसार गैर मुसलमान जिन्हें 'जिम्मी' के नाम से पुकारा जाता था, को एक

मुसलमान शासक के राज्य मे रहने का अधिकार न था। इस प्रकार कर देने के बाद ही वे राज्य में रहकर शासक का सरक्षण और अपने जीवन की सुरक्षा प्राप्त कर सकते थे। इनके लिए गैर मुसलमान को तीन श्रेणियों मे विभक्त किया गया था। प्रत्येक वर्ग को क्रमश. 12, 24, और 48 दिरहम कर के रूप में देने पडते थे। स्त्रिया, बच्चे, भिखारी, लॅगडे, अन्धे, साधू, पुजारी वृद्व जन और वे व्यक्ति जिनके आय का कोई साधन नहीं था, इस कर से मुक्त थे। फीरोज तुगलक ने दिल्ली के ब्राह्मणो पर यह कर लगाया। जोनराज ने भी सूहभट्ट द्वारा (जो जैनुलआब दीन के राज्य में मंत्री था) ब्राह्मणों पर अनेक कर [1] व बन्दिशें [2] लगाये जाने का वर्णन किया है। व्यावहारिक आधार पर दिल्ली सुल्तानो ने इसे बहुत कठोरता से वसूल नही किया, क्योकि इससे बहुसख्यक हिन्दू प्रजा के विद्रोही होने का भय था।

उपर्युक्त करो के अतिरिक्त मुसलमानों से वस्तु के मूल्य का 2.5 % हिन्दुओं से 5% व्यापारिक कर लिया जाता था। घोडों पर 5% कर था। अलाउद्दीन खिलजी ने मकान और चारागाह पर भी कर लगाये थे और फीरोज तुगलक ने राज्य के सिचाई साधनों से लाभ प्राप्त करने वाली भूमि से पैदावार का 10 % सिचाई कर के रूप में लिया था। इसके अतिरिक्त, मुद्रा की ढलाई, लावारिस सम्पत्ति तथा अमीरों एवं प्रान्तीय सूबेदारो द्वारा दी गयी वार्षिक भेटें भी सुल्तान की आय के साधन थे । सुल्तान का मुख्य व्यय सेना,

---

1 यवनाब्धिमहावेला यामकार्षीत् कथंचन।
उल्लंघिताद्विजातीनां तेन दण्डस्थितिस्ततः।।

2. मोक्षाक्षर विना मार्गो दातव्यो नैव कस्यचित्।
इ[illegible]षान् स मार्ग रक्षाधिकारिणः।।

जोनराजकृत राजतरंगिणी (653,656)

अपने और महल के व्यक्तिगत खर्चो तथा विभिन्न पदाधिकारियो के वेतन पर होता था।

लगान व्यवस्था– राज्य की भूमि चार भागो मे विभक्त थी। प्रथम,–वह भूमि जो व्यक्तियो को दान के रूप में दी गयी थी। द्वितीय,– वह भूमि जो मुक्तियों अथवा प्रान्तीय वलियों के अधिकार मे थी। इससे मुक्ती अथवा वली लगान वसूल करते थे और अपने शासन के व्यय को पूरा करने के उपरान्त बाकी धन सरकारी खजाने मे जमा कराते थे।

तृतीय–वह भूमि जो अधीनस्थ हिन्दू राजाओ के आधिपत्य में थी, जो प्रतिवर्ष राज्य को निश्चित धन राशि देते थे। चतुर्थ–खालसा भूमि जो केन्द्रीय सरकार या सुल्तान की भूमि मानी जाती थी और जिससे सुल्तान के कर्मचारी लगान वसूल करते थे। इस चौथी प्रकार की भूमि की लगान व्यवस्था का उत्तरदायित्व सुल्तान और उनके कर्मचारियों पर था। इसके लिए राज्य ने प्रत्येक शिक में 'आमिल' नामक अधिकारी की नियुक्ति की। यह पटवारी, चौधरी, मुकद्दमो, कानूनगो, खत आदि पैतृक अधिकारियो की मदद से लगान वसूल करता था।

इस प्रकार राज्य के कर्मचारियों का किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क न था, बल्कि वे वशानुगत और परम्परा से चले आ रहे गाव अथवा जिले के अधिकारियों से सम्पर्क रखते थे और वहीं से किसानों से लगान वसूल करके उन्हे देते थे। इन कार्यो की देखभाल के लिए 'ख्वाजा' नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था। केन्द्रीय गुप्तचर भी सुल्तान को उनके सम्बन्ध में सूचनायें देते थे।

साधारणतय:, सम्पूर्ण सल्तनत युग मे किसानो को पैदावार का एक तिहाई से लेकर आधा भाग तक राज्य को देना पडता था। आरम्भ मे एक तिहाई ही रहा किन्तु अलाउद्दीन के समय मे इसे आधा कर दिया गया। परन्तु इसमे सफलता नही मिल सकी और बाद के समय मे लगान पैदावार का एक तिहाई ही रहा। मोहम्मद तुगलक ने दोआब मे कर वृद्वि करने का प्रत्यत्न किया परन्तु वह असफल रहा। साधारणत लगान सिक्को के रूप में वसूल किया जाता था, परन्तु अलाउद्दीन खलजी ने अपनी बाजार व्यवस्था के कारण दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्रों और दोआब मे लगान गल्ले के रूप में वसूल किया। अलाउद्दीन और मोहम्मद तुगलक के अतिरिक्त किसी भी सुल्तान ने भूमि की पैमाइश करके लगान लेने की पद्धति नहीं रखी बल्कि पैदावार का अनुमान करके ही लगान निश्चित कर दिया जाता था। अलाउद्दीन ने अपने समय में दान की हुई भूमि को जब्त कर लिया था और उसका पुनर्वितरण किया। गियासुद्दीन तुगलक ने किसानो की भलाई के लिए यह निश्चित किया था कि किसी भी इक्ता के लगान में एक वर्ष के अन्तर्गत 1/11 या 1/10 भाग से अधिक वृद्वि न की जाय। मोहम्मद तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य के आय–व्यय का लेखा–जोखा कराया, इसका कारण पूरे राज्य मे समान लगान व्यवस्था तय करना था। फीरोज तुगलक ने सम्पूर्ण जमीन की लगान निर्धारित करके उसे सम्पूर्ण काल के लिए निश्चित कर दिया, उसने एक पृथक कृषि विभाग खोला। फीरोज–शाह तुगलक ने किसानो को 'तकावी' कर्ज से मुक्त कर दिया, राजस्व विभाग के अधिकारियो के वेतन में वृद्वि की, प्रायः छब्बीस करों से प्रजा को मुक्त कर दिया, फलों के बाग लगाये,

सिचाई की व्यवस्था करायी, किसानो को अतिरिक्त कर भार से मुक्ति दिलवायी। फीरोज शाह तुगलक ने निस्सन्देह किसानो की भलाई करने में सफलता प्राप्त की। सिकन्दर लोदी द्वारा भूमि की पैमाइश करके लगान को निश्चित करने के प्रयास विफल हो गये।

दिल्ली सल्तनत के युग की लगान व्यवस्था में सिद्धान्ततः कुछ दोष रहे। भूमि की पैमाइश न करके अनुमान के आधार पर पैदावार पर लगान निश्चित करना, किसानो के लिए लाभदायक नही हो सकता था। इससे लगान अधिकारियो को मनमानी करने का अवसर मिला था। इसके अतिरिक्त साधारणतः भूमि ठेके पर दे दी जाती थी। इसके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करनेवाले भूमि ठेकेदार वर्ग का जन्म हुआ था जो किसानों से अधिक से अधिक लगान प्राप्त करते थे लगान के अतिरिक्त किसानों को अन्य कर भी देने पडते थे। इस कारण किसानो पर कर का भार अधिक था।

सैनिक संगठन

सुल्तानों की शक्ति उनके सैन्य बल पर निर्भर करती थी। यह सम्पूर्ण काल ऐसा था जबकि सुल्तान भारत मे इस्लाम की सत्ता को स्थापित और विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी कारण हिन्दू राजाओ से संघर्ष और आन्तरिक विद्रोहों का दमन सम्पूर्ण सल्तनत युग मे चलता रहा। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक सुल्तान को एक बड़ी सेना रखना आवश्यक था। मुसलमानों ने भारत मे युद्ध शैली और सैनिक संगठन मे परिवर्तन किये।

उस समय सेना में चार प्रकार के सैनिक होते थे– प्रथम वे सैनिक जो

सुल्तान के सैनिको के रूप मे भर्ती किये जाते थे। इनमे शाही अगरक्षक, शाही और कुछ अन्य सैनिक सम्मिलित होते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना रखी थी ; जिसमें पैदलों के अतिरिक्त चार लाख पचहत्तर हजार घुडसवार भी थे। गियासुद्दीन तुगलक और मोहम्मद तुगलक के समय में भी केन्द्र पर एक बडी सेना स्थायी रूप से रखी गयी, परन्तु उसके पहले और बाद के सुल्तान कभी भी केन्द्र पर बहुत बडी सेना नही रख सके। यह सेना 'दीवान–ए–अरीज' की देखभाल में रहती थी, जो उसकी भर्ती, संगठन वेतन–वितरण आदि के लिए उत्तरदायी होता था। इस सेना के प्रशिक्षण के लिए कोई निश्चित व्यवस्था न थी। बलबन जैसे शासक इस सेना को शिकार के बहाने ले जाकर प्रशिक्षण प्रदान करते थे अन्यथा प्रत्येक सैनिक की कुशलता स्वयं अपने परिश्रम व कौशल पर निर्भर करती थी।

द्वितीय, वे सैनिक होते थे, जो दरबार के सरदारो और प्रान्तीय 'इक्तेदारों' (सूबेदारों) आदि के द्वारा भर्ती किए जाते थे। इन सैनिकों की भर्ती, 'प्रान्तीय–अरीज' करते थे, इस सेना के संगठन का उत्तरदायी इक्तादार सूबेदार ही होता था, परन्तु मुख्य उत्तरदायित्व इक्तादार (सूबेदार) का ही होता था। वर्ष में एक बार उनकी सेनाएं सुल्तान के निरीक्षण हेतु प्रस्तुत की जाती थी।

तृतीय, वे सैनिक होते थे जो केवल अस्थायी रूप से युद्ध के अवसर पर ही भर्ती किए जाते थे, और उसी समय में उनको वेतन व रसद प्राप्त होती थी। चतुर्थ, वे मुसलमान जो स्वयं सम्मिलित होते थे। वे उसे

'जिहाद' (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) मानते थे, उन्हें केवल लूटी हुई सम्पत्ति मे से हिस्सा मिलता था।

सेना के मुख्य तीन विभाग थे–

1. घुडसवार सेना –

इसे सेना का मुख्य भाग समझा जाता था। इस सेना के विंषय में राजतरगिणी में भी उल्लेख है। [1] घुडसवार दो प्रकार के होते थे– सवार जिसके पास एक घोड़ा होता था, और दो अस्पा, जिनके पास दो घोड़े होते थे। घोडो को अरब, तुर्किस्थान और अन्य दूरस्थ प्रदेशों से मंगाया जाता था। अलाउद्दीन खिलजी ने घोडों को दागने तथा सैनिको की हुलिया का विवरण लिखे जाने की प्रथा को प्रारम्भ किया, जिससे घोडों और सैनिकों की अदल–बदल न हो सके। गियासुद्दीन तुगलक ने भी इन प्रथाओ को दोहराया। फीरोज–शाह–तुगलक जैसे शासकों ने अपनी उदारता के कारण इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार को जन्म दिया। उसके समय में सेना की भर्ती वशानुगत कर दी गयी। जिससे योग्यता का अभाव हो गया और सेना दुर्बल हो गयी। प्रत्येक घुडसवार के पास दो तलवारें, एक भाला और धनुष–बाण होते थे। रक्षा के लिए वे कवच, ढाल और शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। घोडों की सुरक्षा के लिए उन्हे भी लोहे के बख्तर पहनाए जाते थे। सेना की सफलता पर्याप्त मात्रा में घुडसवार सेना की शक्ति और गतिशीलता पर निर्भर करती थी।

2. राज सेना–

भारत आगमन के बाद दिल्ली सुल्तान ने युद्व में हाथियों का

---

1. षष्टिग्रामसहस्रेषु स्वाम्यंदातुमिवात्र सः।
तावत्सारव्यसहस्राणि स्वसैन्ये सादिनोऽवहत्।। जोनराजकृत राजतंरगिणी (143)

प्रयोग करना आवश्यक मान लिया था। हाथियो का रखना सुल्तानो का विशेषाधिकार बन गया था। लोदी सुल्तानो के समय के अतिरिक्त अन्य किसी सुल्तान ने अमीरो और सूबेदरो को हाथियो की सेना रखने की आज्ञा नही दी यद्यपि कभी–कभी किसी बडे सरदार को सम्मान स्वरूप हाथी रखने की आज्ञा दे दी जाती थी। हाथियों की देखभाल के लिए एक पृथक् विभाग होता था और हाथियों को युद्व करने की शिक्षा दी जाती थी। हाथियो को बख्तर से सुरक्षित किया जाता था। और उनकी सूडो मे तलवार और हंसिये रख दिये जाते थे। हाथी की पीठ पर हौदा रखा जाता था, जिसमे सैनिक बैठते थे।

3. पैदल सेना–

पैदल सैनिक 'पायक' कहलाते थे। वे तलवार, बरछा, कटार, धनुष–बाण ढाल आदि का प्रयोग करते थे। दिल्ली सुल्तानो में किसी ने भी बारूद गोले के तोप खाने का निर्माण नहीं किया। उनके पास तोपे थी परन्तु वे तोपें पत्थर, जलने वाले पदार्थ, जहरीले साप, लोहे के गोले आदि फेकने के लिए प्रयोग में आती थी। उनके फेंकने के लिए बारूद का प्रयोग होता था परन्तु वो उस समय तैयार नहीं किये जाते थे।

दिल्ली सुल्तान की सेना मे सभी धर्म और नस्लो के व्यक्ति थे। तुर्क, ईरानी, मंगोल, अफगान, हब्शी , भारतीय मुसलमान, मंगोल, अफगान सेना में भर्ती किये जाते थे। यद्यपि उच्च्य पदों पर विदेशी मुसलमानों को ही नियुक्ति दी जाती थी। विभिन्न तत्त्वों से मिलकर बनी हुई ऐसी सेना की शक्ति मूलतया उसके सेनापति अथवा सुल्तान के सेनापतित्व और योग्यता पर निर्भर करती थी। क्योंकि सेना मे अधिकतर मुसलमान होते थे अत· इस्लाम

धर्म उनको एकता व भावनात्मक जोश प्रदान करता था। सेना का सगठन और पदो का विभाजन मुख्यत दशमलव प्रणाली के आधार पर किया गया था। घुडसवार सेना में घुडसवारो की एक टुकडी होती थी जिसका प्रधान 'सरे खेल' कहलाता था। दस 'सरे खेलो' के ऊपर एक 'सिपहसालार' दस सिपहसालारो के ऊपर एक 'अमीर' दस अमीरो के ऊपर एक 'मलिक' और दस मलिको के ऊपर एक 'खान' होता था। सम्भवत पैदल सेना का विभक्तीकरण भी इसी प्रकार से किया गया था। प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति व उन्नति सुल्तान की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करती थी। बहुत से पद वंशानुगत भी बन गये थे।

युद्ध-पद्धति

दिल्ली सुल्तानो की युद्ध पद्धति प्राय समान रही। शत्रुओ की गतिविधि का पता लगाने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे और सेना का एक अग्रगामी भाग आगे भेजा जाता था। युद्ध के अवसर पर सेना को मुख्यत चार भागो मे बांटा जाता था– केन्द्र, वाम–पक्ष, दक्षिण–पक्ष, और सुरक्षित दल। हाथियों को केन्द्र में सबसे आगे रखा जाता था और उनके बीच मे पैदल सैनिक होते थे। घुडसवारो के बीच में जगह छोड दी जाती थी।

राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण भागो और किलों मे स्थायी रूप से सेना रखी जाती थी। किले को सुरक्षा पंक्ति का एक मुख्य भाग समझा जाता था और उनकी सुरक्षा के लिए सभी आवश्यक प्रबन्ध किये जाते थे। सुल्तान सेना का मुख्य सेनापति होता था। वह समय–समय पर विभिन्न आक्रमणों के

लिए अलग–अलग सेनापति नियुक्त करता था। सेना व शक्ति व संगठन बहुत कुछ सुल्तान की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करता था। इल्तुतमिश, अलाउद्दीन खिलजी, गियासुद्दीन व मोहम्मद तुगलक जैसे योग्य सुल्तानों के समय मे सेना की भर्ती की शक्ति बहुत दृढ रही जबकि दुर्बल शासको के नेतृत्व में वही सेना दुर्बल हो गयी।

दिल्ली के सुल्तानों की सेना बहुत श्रेष्ठ नही मानी जा सकती थी। उनमे एकता, सैनिक शिक्षण और अनुशासन की समानता का अभाव था। सरदारो द्वारा संगठित की गयी सेना अपने सरदार के प्रति वफादार होती थी। मुख्यतः उस समय जबकि विदेशों में भी राजपूत शासकों के विरूद्व इस सेना ने सफलता प्राप्त की।

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था

राज्य का सबसे बडा न्यायाधीश सुल्तान स्वयं होता था और सुल्तान का निर्णय अन्तिम होता था।[1] प्रत्येक सुल्तान सप्ताह में दो दिन अपने न्यायालय में उपस्थित होता था और सभी प्रकार के मुकदमों का निर्णय स्वय करता था। धार्मिक मामलों में मुख्य सद्र अथवा मुफ्ती और अन्य मुकदमों में काजी उसकी सहायता करता था। अधिकांशतः काजी और सद्र एक ही व्यक्ति होता था। अतः वही न्याय मे सुल्तान का मुख्य सलाहकार था। सद्र मुख्य काजी, प्रान्तीय काजी अथवा नगरों के काजियों की नियुक्ति सुल्तान करता था। अधिकांश सुल्तान न्यायप्रिय हुए, परन्तु क्योकि वे इस्लाम धर्म के कानूनों के अनुसार न्याय करते थे और काजी से सलाह लेते

1. द्रष्टव्य – जोनराजकृत राजतरगिणी (959)

थे जो धार्मिक व्यक्ति होता था तो गैर मुसलमानो को निष्पक्ष न्याय मिलता होगा, इसमे सन्देह है। गांव मे ग्राम पचायते न्याय करती थीं।

सुल्तानों का दण्ड विधान कमजोर था। सामान्यतः अंग विच्छेद, मृत्यु और सम्पत्ति अपहरण दण्ड के स्वरूप थे। सम्पत्ति सम्बन्धी विवादो और असैनिक मुकदमों में भी इस्लाम धर्म के कानूनों को मान्यता दी जाती थी। इन तथ्यों के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि सुल्तानों की न्याय और दण्ड व्यवस्था मध्य युग की परिस्थितियो के अनुसार सामान्य थी और उसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किसी सुल्तान ने नही किया था। न्याय का रूप सुल्तान के व्यक्तित्व और उसके धार्मिक विचारों पर निर्भर करता था। मुख्य काजी न्याय विभाग का अध्यक्ष होता था क्यो कि इस विभाग का नियंत्रण सुल्तानो के ही हाथों मे था। बडे नगरो मे 'अमीरे दाद' नामक पदाधिकारी होता था, जिसकी तुलना हम आधुनिक सिटी मजिस्ट्रेट से कर सकते हैं इसके दो मुख्य कार्य थे अपराधियों को गिरतार करना और दूसरा काजी की सहायता से मुकदमों का फैसला करना और दूसरे शब्दों में वह काजी के निर्णयो को कार्यान्वित करता था तथा 'मुहतासिब' की मदद से नियमों को लागू करना था। उसकी सहायता के लिए 'नाइबे दायबक' नामक एक पदाधिकारी होता था।

महत्त्वपूर्ण नगरों में कोतवाल के अलावा पुलिस की व्यवस्था नहीं थी। सल्तनत कालीन शासकों के समय में न्याय व्यवस्था ठीक रही अन्यथा अन्य सुल्तानों ने इसे एक सामान्य परन्तु आवश्यक कार्य माना इसका दोष यह था कि किसी भी सुल्तान ने धर्म–निरपेक्ष न्याय, कानून अथवा दण्ड व्यवस्था

को लागू करने का प्रयत्न नही किया, जबकि उनकी बहुसख्यक प्रजा उनसे भिन्न धर्म मानने वाली थी। पुलिस व्यवस्था लागू करने के लिए सुल्तानो ने पृथक् वर्ग नहीं बनाया। सैनिक अधिकारी ही अपने–अपने क्षेत्रो में पुलिस कार्यों की पूर्ति करते थे।

धार्मिक नीति

सम्पूर्ण सल्तनत–युग मे इस्लाम धर्म, राज्य–धर्म था। इस कारण प्रत्येक सुल्तान का एक मुख्य कर्तव्य 'दारूल–हर्ब' (काफिरों का देश) को 'दारूल इस्लाम' (इस्लाम का देश) में परिवर्तित करना रहा। अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के साथ–साथ प्रत्येक सुल्तान ने अपनी इस्लामिक उद्देश्यो की पूर्ति करने का भी प्रयत्न किया। एक सुल्तान किस मात्रा मे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लगनशील रहा, यह उनके व्यक्तिगत धार्मिक विचारों की कट्टरता पर निर्भर करता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि प्रत्येक सुल्तान ने अपनी–अपनी क्षमता और विचारों की सीमा के अनुसार इस कार्य की पूर्ति हेतु प्रयत्न किये। अलाउद्दीन खलजी और मोहम्मद तुगलक जैसे शासकों के लिए राजनीतिक उद्देश्य प्रधान था। जबकि फिरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने राज्य की शक्ति को इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने का साधन बनाने में कोई संकोच नही किया।

सभी सुल्तानों के समय में मुसलमानों और बहुसंख्यक हिन्दुओं में अन्तर किया जाता था। हिन्दू किसानो को मुसलमान किसानों की तुलना में अधिक लगान देना पडता था तथा हिन्दू व्यापारियों को मुसलमान

व्यापारियो की तुलना मे दुगुना व्यापारिक कर देना पडता था। हिन्दू तो क्या हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमानो को भी राज्य मे अच्छे पद नही दिये जाते थे। हिन्दुओ को मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रलोभन दिये जाते थे। न्याय मे मुसलमानो के साथ पक्षपात होता था, हिन्दुओ के साथ निष्पक्ष न्याय की सम्भावना बहुत कम रहती थी। हिन्दुओ को उनके तीर्थ स्थानों पर जाने से रोका जाता था। और उन्हे 'जजिया' देना पडता था। [1] सुल्तानों की दान व्यवस्था और अस्पतालो के निर्माण से हिन्दुओ को कोई लाभ नही था जबकि मुसलमान मदरसो, मकतबो और मौलवियों को धन और जागीर दिया जाता था। और हिन्दू पाठशालाओ और विद्यालयों को नष्ट किया जाता था। हिन्दू–मन्दिरो और देवी देवताओ को नष्ट करना उनके लिए प्रसन्नता का हेतु था। [2] मन्दिरों को तोड कर उनके खण्डों को मस्जिदों की सीढियों पर लगाना और हिन्दुओं को अपमानित करने के लिए मन्दिरों के स्थानों पर मस्जिदों का निर्माण करना प्रायः सभी सुल्तानो के समय मे हुआ। हिन्दुओं को मुसलमानों के समान कोई अधिकार नहीं प्राप्त थे, वे न तो नये मकान बनवा सकते थे और न ही अपनी भावनाओ को स्वतंत्र रूप से प्रकट कर सकते थे और मुसलमानो की दया पर निर्भर करते थे। मुसलमान उन्हें अपमानित करने का कोई अवसर नही छोडते थे। निस्सन्देह, हिन्दुओ को शब्द व व्यवहार में दो प्रकार से 'जिम्मी' तथा 'काफिर' समझा जाता था। अधिकांश

---

1 जातिध्वसे मरिष्यामो द्विजेष्विति वदत्स्वथ।
जातिरक्षानिमित्त स तान्दुर्दर्ण्डमजिग्रहत्।।
जोनराज कृत राजतरगिणी (606)

2 कथाशेषीकृते सर्वगीर्वाणप्रतिभागणे।
व्याधिमुक्तमिऽवानन्दं सूहभट्टोऽभजत्तत। वही (श्लोक 604)

दिल्ली सुल्तान 'सुन्नी' थे इस कारण शियाओ और अन्य मुसलमान धर्मावलम्बियो के प्रति भी उनका व्यवहार कटुतापूर्ण था।

आधुनिक समय मे विभिन्न इतिहासकारों ने यह सिद्व करने का प्रयत्न किया है कि सुल्तानों की नीति या धार्मिक, सकीर्णता और पक्षपात पर आधारित नही थी, अपने इस मत के समर्थन मे वे विभिन्न मत भी देते हैं, जैसे मन्दिरों को नष्ट किये जाने का कारण धन था, मूर्तियों को नष्ट करने का उद्देश्य हिन्दुओ को एक ईश्वर में विश्वास करना सिखाना था। तत्कालीन इतिहासकारों ने केवल प्रतिष्ठा और प्रचार के कारण सुल्तानों के धार्मिक कार्यों को बढा–चढा कर लिखा, आदि सम्भवत· ऐसे विद्वानों का इस मत को प्रकट करने का उद्देश्य सद्भावना पूर्ण है। आधुनिक युग की परिस्थितियों में जबकि धार्मिक, सहनशीलता, हिन्दू मुसलमानो के अच्छे सम्बन्ध और धर्म निरपेक्ष राज्य के निर्माण की आवश्यकता है, तब धार्मिक कट्टरता पर चाहे वो आधुनिक युग की हो अथवा मध्ययुग की, बल देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतिहास तथ्यों पर आधारित सत्य है, न कि किसी युग की विशेष प्रवृत्ति के प्रचार का साधन। इसके अतिरिक्त सत्य के द्वारा ही भविष्य का निर्माण करना अधिक तर्क संगत है और उसी के आधार पर किसी परिस्थिति या प्रवृत्ति को ठोस आधार बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे यह कहना अधिक उपयुक्त है कि तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि प्रायः सभी दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक नीति संकीर्णता व साम्प्रदायिकता पर आधारित थी। तत्कालीन सभी इतिहासकारों ने इतिहास धर्म की रक्षा की और प्रचार के हेतु सुल्तानों द्वारा कियेगये कार्यो

की प्रशंसा की थी, ये सभी मुसलमान इतिहासकार थे। भविष्य से अनभिज्ञ उन्होने जो कुछ भी लिखा उसमे अतिशयोक्ति हो सकती थी परन्तु उनके कथन का आधार सत्य है।

मध्य युग मे धर्म की मान्यता थी और यदि सुल्तानो ने इस मान्यता के अनुकूल कार्य किये तो उन पर न तो सन्देह करने की आवश्यकता है और आश्चर्य करने की। न ही सुल्तानों पर लांछन लगाने की। उन सुल्तानों ने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार कार्य किया जो स्वाभाविक था। उनका लक्ष्य केवल धर्म प्रचार ही नही था, भारत में अपने द्वारा स्थापित राज्य की रक्षा करना उनका प्रमुख हित और स्वार्थ था। धर्म से राजनीति के अनिवार्य रूप से जुडे होने के पीछे यही हेतु था। इस कारण सम्पूर्ण सल्तनत काल एक ऐसे संघर्ष का युग था जिसमें हिन्दु और मुसलमान, धर्म और राजनीति दोनों ही स्थलों में एक दूसरे को शत्रु मानते थे। उस संघर्ष में मुसलमान विजेता और आक्रमणकारी बन चुके थे तथा हिन्दू पराजित और रक्षार्थी। इन परिस्थितियों में विजेता का अपने श्रेष्ठता को स्थापित रखने प्रयत्न और बहुसख्यक हिन्दुओं को मुसलमान धर्म में परिवर्तित करके अपनी संख्या को बहुमत में बदलने का प्रयत्न परिस्थितियो के अनुसार राजनीति के लिए लाभप्रद और धर्म के प्रति परायणता का था। इस प्रकार सभी प्रकार से लाभदायक इस कार्य की पूर्ति करने वाले सुल्तानों के कार्यो की निन्दा नहीं की जा सकती थी, तथा उनके उद्देश्यों को कोई अन्य रूप प्रदान करना उनके साथ अन्याय करना होगा। इस कारण दिल्ली सुल्तानों की नीति धार्मिक असहिष्णुता की थी और इसमें कोई अनुचित और आश्चर्य की बात न थी। परन्तु एक बात अवश्य कही जा सकती है कि दिल्ली सुल्तानो में से कोई

भी महान न हो सका और इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि उनमें से कोई भी अपने समय से आगे न सोच सका और न उनके अनुकूल कार्य कर सका। अन्यथा अलाउद्दीन जैसे महान शासक और योद्वा को भी आधुनिक इतिहासकार महान मानने में क्यो संकोच करते ? दिल्ली सुल्तानो में से कोई भी यह न समझ सका कि समस्त हिन्दू प्रजा को मुसलमान बनाना असम्भव है और न हिन्दू धर्म को शक्ति के आधार पर नष्ट किया जा सकता है। यदि वे समझ सके होते तो धार्मिक कट्टरता के अवसाद से बच जाते और हिन्दू मुसलमानों में वह पारस्परिक सद्भावना अधिक तीव्र गति से स्थापित होती जो जनता में स्वाभाविक दृष्टि से उत्पन्न हो रही थी। मुगल शासक इस बात को समझ सके और अकबर इसे समझ कर महान कहलाने का अधिकारी बन सका। इसी कारण मुगल–वंश भारत में अधिक उन्नतिशील बन सका। दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक कट्टरता उनकी एक महान भूल थी।

दिल्ली सुल्तानों का शासन पूर्णतया दोष रहित न था तथापि वह समय की आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ रहा। उनका मूल दोष उनकी धार्मिक कट्टरता की नीति और अपने सैनिक संगठन को समय के अनुकूल न बनाना था। एक ने उनको बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के सहयोग से वंचित रखा तथा दूसरे ने उनके हाथों से भारत की सत्ता छीन ली।
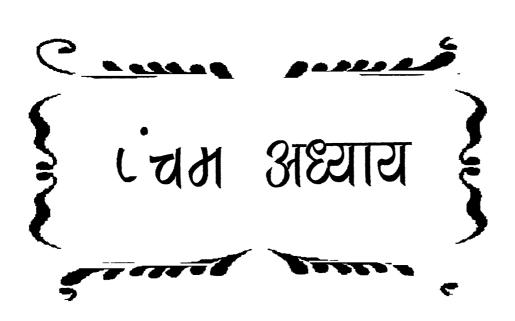
पंचम अध्याय

पंचम अध्याय

धार्मिक तथा दार्शनिक आस्थाएँ

मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था भी धर्म से पूर्णरूपेण अनुप्राणित थी, जैसे कि प्रत्येक समाज मे धर्म का स्थान अति महत्वपूर्ण होता है। समाज के विविध वर्गों की किसी परमसत्ता मे आस्था, विचार और उनका सम्यक अनुपालन ही धर्म है। इसीलिए शास्त्रों मे धर्म का निर्वचन किया गया है। "धारयते इत धर्म" अर्थात् जो धारण किया जाए वही धर्म है, ये धर्म हमारे आचार–विचार, रहन–सहन में स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस युग मे भारतीय समाज मे अधिसंख्य व्यक्ति सनातन धर्म के या हिन्दू धर्म के अनुयायी थी।

इस युग के आरम्भ मे हिन्दू धर्म "वैदिक युग" के कर्मकाण्ड, बुद्ध के मानवतावादो सिद्धान्तो तथा अर्थपूर्ण धार्मिक स्वरूप और प्रतीकों के सामजस्य के रूप में था। उच्च वर्ग के अधिकाश हिन्दू तथा बुद्धिजीवी यह मानते थे कि ईश्वर एक है जो सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्त्ता, अनंत, सर्वव्यापी, विधि–विधान तथा ब्रह्माण्ड को कायम रखने वाला है। हिन्दुओ के जनसाधारण प्रायः बहुदेववादी थे। हिन्दुओं की सबसे बडी कामना मोक्ष प्राप्ति की थी और प्रत्येक हिन्दू जन्म व मृत्यु के चक्र अर्थात् आवागमन से छुटकारा पाकर परमेश्वर मे एकाकार होना चाहता था। इसे प्राप्त करने के तीन रास्ते थे–कर्म, ज्ञान व भक्ति।

भारतीय संस्कृति की एक मुख्य विशेषता यह रही है कि इसने

अपने प्राचीन तत्त्वो अथवा विशेषताओ को नष्ट किये बिना नवीन तत्त्वो और विशेषताओं को अपने मे आत्मसात किया है। धार्मिक दृष्टि से यदि एक विचारधारा या एक सम्प्रदाय यहा विकसित हो गया तो चाहे उसका स्वरूप कितना ही बदल गया हो परन्तु उसे नष्ट करने का प्रयत्न नही किया गया। इस कारण इस समय भी भारत मे प्राचीनतम धार्मिक सम्प्रदाय, किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। वैदिकधर्म, बौद्धधर्म, जैनधर्म, हिन्दू–वैष्णव, शैवशक्ति और तांत्रिकसम्प्र ाय आदि सभी किसी न किसी रूप मे भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। बौद्धमतावलम्बी, मुलसमानी आक्रमणों के अवसर पर पर्याप्त संख्या में थे, परन्तु धीरे–धीरे उनकी संख्या भारत में नगण्य हो गयी। जैन धर्म पश्चिम भारत मे और वह भी मुख्यतया राजस्थान और गुजरात तक सीमित रह गया। हिन्दू धर्म में वैष्णव सम्प्रदाय प्रभावशाली हो गया और शैव सम्प्रदाय के अनुयायियों में पर्याप्त वृद्धि हुई। मुसलमानों मे मुख्यतया सुन्नी व शिया तथा कुछ अन्य छोटे सम्प्रदाय थे परन्तु इस समय की मुख्य विशेषता मुसलमानों में सूफी सम्प्रदाय की प्रगति और हिन्दू–भक्ति मार्ग पर अथवा भक्ति आंदोलन की प्रगति थी।

भक्ति आंदोलन–

हिन्दू धर्म के अंतर्गत उत्पन्न भक्ति आंदोलन मध्य युग के धार्मिक जीवन की एक महान विशेषता रही है। कई शताब्दियो तक यह धार्मिक आंदोलन बहुत प्रभावपूर्ण रहा और आधुनिक हिन्दू धर्म पर उसकी गंभीर छाप है। मध्य युग के इस धार्मिक आंदोलन को कहॉ से प्रेरणा प्राप्त हुई, इस प्रश्न पर विभिन्न विचार प्रकट किये गये है। सर्वप्रथम बेवर और ग्रीयर्सन जैसे यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि निर्वाण

प्राप्ति के लिए भक्ति और ईश्वर की एकता का विचार हिन्दुओं ने ईसाईयो से ग्रहण किया, परन्तु आधुनिक इतिहासकारो ने इसका खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त एक विचार यह भी प्रस्तुत किया गया है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म को प्रभावित किया जिसका परिणाम मध्ययुग का भक्ति आदोलन था। इसके पक्ष मे यह कहा जाता है कि रामानन्द जिन्होंने इस आदोलन के आधार का निर्माण किया, किसी न किसी प्रकार इस्लाम के विचारो से परिचित हो गये थे और यही विचार उनके लिए प्रेरणादायक बने, यही नही कुछ व्यक्तियों ने यहॉ तक कहा कि शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धांत (एकेश्वरवाद मे विश्वास) भी इस्लाम धर्म के प्रभाव के कारण हुआ। परन्तु शकराचार्य व रामानुज पर नव स्थापित इस्लाम धर्म का प्रभाव स्वीकार किया जाना तर्कसगत नही है। शकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद का समर्थन भारतीय वेदान्त–दर्शन के आधार पर किया और रामानन्द व रामानुज वैष्णव धर्म के अनुयायी थे जो हिन्दू धर्म के भक्ति मार्ग पर बल देते थे और उन्होने अपने विचारों का समर्थन उन प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रंथों के आधार पर किया जिनमें मूर्तिपूजा का स्थान नहीं है और जो एकेश्वरवाद मे विश्वास करते हैं उस समय (प्राचीन काल में) मुसलमानों का अता–पता भी नही था। कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि इस्लाम की भ्रातृ–भाव और मानव–समानता की भावना ने हिन्दुओं और भक्ति मार्ग के प्रचारकों को प्रभावित किया परन्तु इस्लाम की यह भावना हिन्दुओं को उस स्थिति मे कैसे प्रभावित कर सकती थी, जबकि वैचारिक व व्यावहारिक रूप से इस्लाम हिन्दू व मुसलमानों में गंभीर अंतर मानता था और कोई भी मनुष्य अपने आदर्श रूप का ही अनुसरण करता है जबकि इसलाम धर्म व उसके कट्टर प्रवर्तकों ने तो हिन्दुओं पर जो

भी प्रभाव डाला वो कटुता व वैमनस्य का था जो आज भी दोनो समुदायो मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दो समुदायो के अंतर मे प्रमुख हाथ धर्म का होता है। धर्म ही दो समुदायो को एक–दूसरे से पृथक् करता है अत हिन्दू धर्म प्रवर्तको पर इस्लाम का प्रभाव पडता है– बिल्कुल असम्भव सा प्रतीत होता है। हॉ कुछ कारणो से दोनों धर्मो मे साम्य होना इस बात का द्योतक नही कि इस्लाम धर्म ही हिन्दू धार्मिक आंदोलन का आधार बना।

वास्तव में भक्ति आदोलन हिन्दू–धर्म के अतर्गत ही एक आदोलन था। हिन्दू धर्म में निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये है–ज्ञान, कर्म व भक्ति। समय–समय पर धर्म प्रचारकों ने इन्हीं मे से किसी न किसी एक मार्ग पर बल दिया। वेदो के अनुसार कर्म से अर्थ बलिदान या यज्ञ था, जिसमें प्रार्थना तथा आस्था निहित होती थी। वैदिक यज्ञ मे पशु, फूल, दूध, चावलादि की आहुति दी जाती थी किन्तु बाद में स्मृति के अनुसार पशुबलि की व्यवस्था अस्वीकार कर दी गई तथा शेष अनुष्ठान चलते रहे। भगवद् गीता ने कर्म पर बल दिया जिसके अनुसार फल की इच्छा किए बिना अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। [1] प्रायः सभी जातियों में इस विचारधारा के समर्थक हैं। वे उचित रीति व पद्धति द्वारा पूजा करते थे। दूसरा महत्वपूर्ण स्थान ज्ञान का था। सत्य को समझने के लिए ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य थी तभी सांसारिक बंधनो से मुक्त कर आत्मा को स्वछद किया जा सकता था। इसे ब्राह्मणो तथा अन्य उच्च वर्ग के लोगो ने अपनाया। शिक्षण, चितन व समाधि के द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति पर उस समय अधिक बल नहीं था हालांकि धर्मग्रंथों में विशेषकर उपनिषद्, भगवद्गीता,

---

1 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्। भगवद्गीता 2 - ५7

और महाभारत मे ईश्वरोपासना का उल्लेख किया गया है। किन्तु मध्यकालीन समय मे अधिक प्रचलन नही होने से इसका स्थान गौण था। मुसलमान आध्यात्मवादी भक्ति और ईश्वर प्रेम को अधिक महत्व देते थे। ज्ञान की महत्ता दूसरे स्थान पर थी। और इसकी आवश्यकता ईश्वर प्रेम की स्थिति को समझने के लिए होती थी। सुल्तानी युग में हिन्दू सतों और सुधारकों के द्वारा आरम्भ किया गया धार्मिक सुधार के आंदोलन मे ईश्वरोपासना या भक्ति प्रमुख बात थी।

इन प्रारम्भिक सुधारको पर इस्लाम के भाईचारे के सिद्वान्त तथा इसके उपासकों से धार्मिक समता के आदर्श एवं एकेश्वरवाद और आत्मसमर्पण के सपर्क से दक्षिण भारत में जाति विरोधी तथा एकेश्वर वादी आदोलन पुनः प्रारम्भ हुआ जो बाद में उत्तरी भारत में भी फैल गया। फिर यह कहना गलत होगा कि मध्यकाल के जातिविरोधी तथा एकेश्वरवाद आंदोलन का उत्साह हिन्दू धर्म में था जिसे इस्लामी प्रभाव से बल मिला था। निसंदेह ऋग्वेद तथा उपनिषदों में एकेश्वरवाद का सिद्वान्त निहित था जैसा कि सुप्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार का कथन है, "प्राचीन काल में हिन्दुओं के सभी महान विचारकों, सभी धार्मिक सुधारकों और सभी सच्चे उपासकों ने अगणित देवी–देवताओं की पूजा–अर्चना के बाद भी, एक केवल एक श्रेष्ठ ईश्वर की सत्ता की घोषणा की है। उन्हौंने धार्मिक कर्मकाण्ड को सदैव सरल बनाने का प्रयत्न किया है। इन सबो मे धर्म को सरल बनाकर जन साधारण तक पहुँचाने का प्रयास किया है। अतः मुसलमानों के आगमन के उपरान्त पुन एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को बल मिला तथा यज्ञ, बलि आदि कर्मकाण्डो व ज्ञान के ग्रंथों

की पूजा मात्र के स्थान पर भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता को मान्यता दी गई। इस प्रकार मध्य युग मे विभिन्न कर्मकाण्डों, तीर्थाटन, व्रत, उपवास तथा बहुदेववाद का सथान गौण होता चला गया।

मध्य युग में हिन्दू धर्म प्रचारको ने भक्ति मार्ग पर बल दिया उसी के परिणामस्वरूप भक्ति आंदोलन का जन्म हुआ। यह आंदोलन पूर्णतः नवीन भी नही माना जा सकता। ईसा पूर्व छठी सदी में बौद्ध और जैन धर्म के साथ भागवद्–आंदोलन का भी प्रादुर्भाव हुआ था जो भक्ति मार्ग पर बल देता था। परन्तु उस अवसर पर वह प्रबल नही बन सका। उस समय बौद्ध धर्म एक प्रभावशाली आंदोलन के रूप में सामने आया था। गुप्त काल में हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान होने पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत मे प्रबल रहा। तथा उसके पश्चात् हिन्दू धर्म एक लम्बे समय तक बौद्धिक अथवा भावनात्मक नवचेतना से वंचित रहा। 8वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने तर्क और बुद्धि के आधार पर हिन्दू अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, जिसके कारण सम्पूर्ण राजपूतों की शौर्य व प्रेम प्रसंगों की भावना जागीरदारी प्रथा पर आधारित थी उनकी राजनीतिक व्यवस्था धर्म में बौद्धिक क्रान्ति के अनुकूल न थी। इस कारण शंकराचार्य का ज्ञान–मार्ग जन साधारण के लिए न तो आकर्षक रहा और न समझने के लिए सरल।

इन्हीं परिस्थितियों में भारत मुसलमानों आक्रमणों से पदाक्रान्त हो गया और इस्लाम ने हिन्दू जनजीवन, समाज व धर्म को चुनौती दी । ऐसी स्थिति में राजनीतिक सत्ता और आर्थिक व सामाजिक सुविधाओं से वंचित हिन्दुओं ने धर्म का सहारा लिया और उन्होंने सबसे आकर्षक मार्ग

"भक्तिमार्ग " को चुना। मध्य युग की निरकुश प्रवृत्तियों मे इस्लाम धर्म से आक्रान्त हिन्दुओ ने धर्म की रक्षा के लिए प्राय· उसी प्रकार की सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर भक्ति मार्ग को चुन लिया। उसी का परिणाम भक्ति आदोलन हुआ। मुसलमानो के आक्रमणो के कारण सामाजिक एकता के लिए जाति–प्रथा, मुसलमानो पर आक्रमण मंदिरो को नष्ट किए जाने पर मूर्ति–पूजा की आवश्यकता को नगण्य बनाना और धार्मिक एकता के लिए एकेश्वरवाद का समर्थन आवश्यक हो गया। सम्भवतः इसी कारण इस आंदोलन के प्रवर्तकों ने जाति–प्रथा का विरोध किया और मूर्ति–पूजा को भी आवश्यक नहीं बताया, एकेश्वरवाद का समर्थन किया और इस्लाम हिन्दू धर्मों को एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के दो मार्ग बताये।

भक्ति आंदोलन और उसके प्रवर्तक सभी सतों ने उन विशेष बातों पर बल दिया जो इस आंदोलन का आधार थीं। इन सभी संतों ने किसी विशेष सामाजिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय से अपने को नही बांधा और इनमें से कोई भी नवीन धर्म का आरम्भ नहीं करना चाहता था। इनमें से अधिकांश को किसी भी धार्मिक ग्रंथ में आस्था न थी, वे किसी भी धार्मिक कर्मकाण्ड में विश्वास नही करते थे। वे बहुदेववाद का विरोध करते थे, और एक है ईश्वर के विभिन्न नामक जैसे राम, कृष्ण, शिव, अल्लाह आदि हैं ऐसा उनका विश्वास था। वे मूर्ति पूजा व जाति–प्रथा का विरोध करते थे तथा केवल भक्ति के द्वारा ही व्यक्तियों को मोक्ष का मार्ग बतलाते थे। उनका मत था जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने किसी निकट संबंधी से प्रेम करता है। उसी प्रकार धीरे–धीरे एक विस्तृत दृष्टि से प्रेरित होकर वह एकमात्र ब्रह्म अथवा

ईश्वर से प्रेम कर सकता है। जिसे राम, कृष्ण, शिव, किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। उनके अनुसार ईश्वर मदिर मे नहीं बल्कि व्यक्ति के ह्दय मे निवास करता है। ईश्वर से केवल भक्ति द्वारा सम्पर्क स्थापित करना भक्ति–सतो का मूल आधार था परन्तु भक्ति मार्ग पर चलने के लिए व्यक्ति को अपने शरीर और मस्तिष्क को सभी विकारो से मुक्त रखना आवश्यक था। व इसके लिए एक गुरु आवश्यक था। उनका कहना था कि गुरू शिष्य को इस कार्य में सहायता प्रदान करता है। परनतु मोक्ष–प्राप्ति केवल ईश्वर की कृपा से ही संभव है और ईश्वर की कृपा प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं का कार्य व कर्त्तव्य है। विभिन्न सतो ने न सभी विचारों के भजन दोहा, कविता व सरल उपदेशो द्वारा जन साधारण को समझाया। सबसे प्रमुख प्रेरक स्वयं उनका भक्तिपूर्ण जीवन था। इन सतो ने अपने विचारों को संस्कृत में नहीं वरन् विभिन्न प्रदोशिक भाषाओं में बताया। मंदिर, सार्वजनिक स्थान और गाव की चौपाले उनके प्रचार–स्थान थे तथा भजन और कीर्तन उनके मुख्य साधन। इन सभी ने मिलकर भक्ति आंदोलन को मध्य युग में अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया।

सम्पूर्ण मध्ययुग मे भारत के विभिन्न भागों मे भक्ति मार्ग के विभिन्न प्रवर्तक हुए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है आठवी से दसवीं सदी तक दक्षिण (भारत) धार्मिक सुधारो का केन्द्र बना रहा। वैष्णव और शैव संतो ने भक्ति परम्परा को आरंम्भ किया, जिसके लिए शकर, रामानुज, निबादित्य वासव , वल्लभाचार्य और माधव जैसे विद्वान संतो ने अपने दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये।

रामानुज

रामानुज (1017–1137) ने दक्षिण वैष्णववाद मे सुबद्ध दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जो विशिष्टाद्वैत के रूप में ज्ञात है। उसके अनुसार मोक्ष का मार्ग कर्म, ज्ञान, व भक्ति मे निहित है। रामानुज के मत मे आत्मा ज्ञान नही ज्ञाता है। आत्मा धर्मभूत ज्ञान से सहचारित रहता है। आत्मा अपने में अणु हैं, किन्तु उसका धर्मभूत ज्ञान विभु है। तथाकथित मनोदशाएँ–ज्ञान, सुख–दु.ख आदि सब धर्मभूत ज्ञान के विकार या परिणाम हैं। रामानुज के दर्शन के प्रचार ने भक्तिवाद को पुष्ट किया। उनके बाद वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय बने। इन सब सम्प्रदायों पर रामानुज का प्रभाव लक्षित होता है। मौलिकता की दृष्टि से भक्तिपरक वेदान्तीय सम्प्रदायो मे विशिष्टाद्वैत सबसे मौलिक और दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। विशिष्टाद्वैत को श्री–सम्प्रदाय भी कहते है। स्वयं रामानुज अपने दर्शन को बोधायन वृत्ति पर आधारित बतलाते है, वे उसे द्रमिड.,टक, गुहदेव और नम्मालवार की परम्परा को अग्रसर करने वाला भी मानते है। वास्तव मे रामानुज का दर्शन तथा अन्य वैष्णव सम्प्रदाय प्राचीन भागवत धर्म की परम्परा दर्शन तथा अन्य वैष्णव सम्प्रदाय प्राचीन भागवत धर्म की परम्परा को अग्रसर करने वाला भी मानते है। वास्तव में रामानुज का दर्शन तथा अन्य वैष्णव सम्प्रदाय प्राचीन भागवत धर्म की परम्परा को अग्रसर करने वाला भी मानते हैं प्रचीन भागवत धर्म की परम्परा को अग्रसर करते व और उसे दार्शनिक आधार देते है। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध शिक्षक नाथमुनि ने तमिल के आलवार संतों की वाणी को प्रस्थानत्रयी के समान

महत्त्व दिया और इस प्रकार उभय वेदान्त सज्ञा का प्रचार किया। शंकर व रामानुज के बीच मे भास्कर नामक आचार्य हुए। जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। भास्कर ने शकर के मायावाद का खासतौर से खण्डन किया।

रामानुज के बाद वैष्णव सम्प्रदायों मे मध्व का द्वैत वेदान्त, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, वल्लभ का शुद्धाद्वैत और चैतन्य सम्प्रदाय का अचिन्त्य भेदाभेद प्रसिद्ध है। रामानुज सगुण ईश्वर मे विश्वास करते थे। भक्तिमार्ग को ईश्वर प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलाते थे। उनके अनुसार कर्म–मार्ग व्यक्ति को माया में बांध लेता है जिससे मोक्ष संभव नही है और ज्ञान मार्ग व्यक्ति को केवल माया (सांसारिक सुख और लालसाएँ) से मुक्ति दिला सकता है। इस कारण अपूर्ण है। बिना स्वार्थ के कर्त्तव्यपालन से मन पवित्र होता है, इससे जीव स्वय चितन करने में समर्थ होता है, इस प्रकार जीव को स्वयं तथा ईश्वर पर निर्भर होने का ज्ञान मिलता है, उसमें ईश्वर के प्रति प्रेम जागता है। भक्ति मे चिन्तन समाहित है। इस प्रकार भक्ति मे ज्ञान का योग होता है। इस प्रकार रामानज ने ईश्वर भक्ति में ज्ञान का योग होता है। चिंतन मे ईश्वर के प्रति प्रेम व समर्पण की भावना का अनुभव होता है। इस प्रकार भक्ति मे ज्ञान का योग होता है। चितन में ईश्वर के प्रति प्रेम व समप्रण की भावना का अनुभव होता है। इस प्रकार रामानुज ने ईश्वर भक्ति का मत चलाया और कहा कि केवल इसी से मोक्ष प्राप्त हो सकता है, उनके अनुसार केवल भक्ति मार्ग द्वारा ही व्यक्ति वैकुण्ठ को प्राप्त कर सकता है और ईश्वर मे लीन हो सकता है। यही सही है कि उन्होंने प्राचीन समय से चले आ रहे उच्च वर्गों के द्वारा वेदपाठ के विशेष अधिकार का विरोध नही किया किन्तु उन्होने सबको पूर्ण समर्पण तथा गुरु में आस्था रखने का उपदेश दिया। जो ईश्वर को

आत्मसमर्पण करता है, उसकी रक्षा ईश्वर करते है, मृत्यु के उपरान्त उसे बैकुण्ठ प्राप्त होता है जहाँ उसे सदैव ईश्वर दर्शन का लाभ होता है।

निम्बार्क

एक अन्य संत निम्बार्क थे। वे भी 12 वी शताब्दी में हुए। वे राधा–कृष्ण के उपासक थे। वे उन्हे शकर का अवतार मानते थे। इन्होने भी रामानुज के विचारों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार संसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र है। ब्रह्म सगुण व निर्गुण दोनो हैं। संसार ब्रह्म से भिन्न व पृथक् दोनों है। संसार मे जीव व प्रकृति दोनो मानने के कारण द्वैताद्वैत मत कहा जाता है। जीव जो कि ब्रह्म के [illegible] में है, मुक्तावस्था में भी उससे अभिन्न और पृथक् दोनों रूपों में है। ब्रह्म के वास्तविक रूप के साथ तादात्म्य प्राप्त करने को मोक्ष कहते है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान व आत्मसमर्पण से होती है। इस मत के अनुसार ब्रह्म की उपासना कृष्ण व राधा के रूप में की जाती है। इस मत को सनक सम्प्रदाय भी कहते हैं (इसे सनक नामक ऋषि ने चलाया था।)

निम्बार्क ने ब्रह्म सूत्रों की टीका 'वेदान्तपारिजात सौरभ' नाम से की है। निम्बार्क के शिष्य श्री निवास ने इस वेदान्त पारिजात सौरभ की टीका की है। निम्बार्क ने द्वैताद्वैत मत पर दशश्लोकी ग्रंथ भी लिखा है।

वल्लभाचार्य–वल्लाभाचार्य (1473–1531) शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक हैं। इस मत के अनुसार ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार का है। वह संसार का कर्ता–धर्ता और संहर्ता है सत्, चित् और आनन्द उसके गुण हैं। वह एक और

अनिर्वचनीय है, वह जीवात्मा मे अन्तर्यामी रूप मे विद्यमान है। वह जगत् का उपादान और निमित्त कारण है वह पूर्ण है। उसे पुरुषोत्तम कहा जाता है। वह आनन्दमय है। इन रूपो में वह सगुण है। उसमें साधारण मानवीय कोई गुण नहीं है अत उसे निर्गुण कहा जाता है। जीव वास्तविक है। वे ब्रह्म के एक अश है। वे ब्रह्मरूपी अग्नि के कण के तुल्य है। जीवात्मा परमाणुतुल्य होता है। जीव ब्रह्म में जो अंतर दिखाई देता है, वह वास्तविक नही हैं, अपितु वह अतर ब्रह्म की इच्छा के कारण है। यह अंतर अद्वैत मत के तुल्य माया के कारण नहीं है। अत इस मत में माया की सत्ता न होने से इसे शुद्धाद्वैत मत ब्रह्म अपनी स्वतंत्र इच्छा से जीवों को अपने शरीर के तुल्य दिव्य शरीर प्रदान करता है, जिससे वे ब्रह्म के साथ सदा क्रीडा किया करें। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध नायक–नायिका भाव (पति–पत्नी भाव) सम्बन्ध है। भक्ति और आत्मसमर्पण से ब्रह्म का अनुग्रह प्राप्त होता है। इस मत में ब्रह्म की पूजा कृष्ण रूप में होती हैं उसके नाम गोपीजन वल्लभ और श्री गोवर्धन नाथ जी या श्री नाथजी है। इस मत मे गुरु को देवतुल्य माना जाता है और उनकी देवतुल्य पूजा की जाती है यह वेद, भगवद्गीता और उपनिषद् तथा भागवत को प्रामाणिक ग्रथ मानता है। जीवात्मा भागवत् के निम्नलिखित सात प्रकार के अर्थों को जानने से मुक्त होता है। भागवत के सात ज्ञातव्य अर्थ ये हैं–शाखा, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य, पद और अक्षर। वल्लाभाचार्य में ब्रह्मसूत्रों की टीका अणुभाष्य नाम से की है। उन्होने इस भाष्य को अपूर्ण छोड दिया था, उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी ने उसे पूर्ण किया। वल्लभाचार्य ने भागवत् की टीका सुबोधिनी टीका लिखी है। उन्होने वह छोटे ग्रंथ लिखे है। इसमें उन्होंने शुद्धाद्वैत मत के सिद्धान्तों और

शिक्षको का सक्षिप्त विवेचन किया है। हरिवश, विष्णु पुराण और भागवत पुराण मे राधा का उल्लेख नही मिलता परन्तु बल्लभाचार्य ने राधा को कृष्ण की पत्नी बताया है।[1] वल्लभाचार्य के शिष्य पुरुषोत्तम ने अणुभाष्य की टीका गोपेश्वर ने रश्मिनाम से की है। पुरुषोत्तम ने शुद्धाद्वैत मत के दार्शनिक मन्तव्यो पर एक स्वतंत्र ग्रंथ 'वेदान्ताधिकरण माला' लिखा है। श्री जयगोपाल ने तैत्तिरीयोपनिषद् की टीका लिखी है। कृष्णचन्द्र ने ब्रह्मसूत्रो की टीका भाव प्रकाशिका नाम से की है।

माध्वाचार्य–(1199–1278)

निसंदेह तेरहवी शताब्दी में दक्षिण के भक्ति आदोलन के सबसे बडे नेता मध्वाचार्य थे। ये द्वैतमत के संस्थापक थे। इनके गुरू अच्युतप्रेक्षाचार्य ने अद्वैत–सिद्धान्त का खण्डन कर के द्वैतमत की स्थापना की। मध्वाचार्य का वास्तविक नाम वासुदेव था। उनके चार शिष्य थे– पद्मनाभ, नरहरितीर्थ, माधवतीर्थ व अक्षोभ्यतीर्थ। यह मत उपनिषदों की भेद श्रुति पर अवलम्बित है। इस मत के [illegible]क ग्रन्थों मे अभेदश्रुतियो और घटक श्रूतियो की इस प्रकार व्याख्या की गई है कि वे द्वैतमत के समर्थक हों। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति ये तीनों नित्य और स्वतंत्र सत्ता हैं। जीवों में परस्पर भेद है और प्रकृति में भी आन्तरिक भेद है। परमात्मा विष्णु है उसका शरीर अप्राकृत (प्रकृति निर्मित नहीं) है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है। उसक इच्छा से ही प्रकृति जगत् के रूप में परिवर्तित होती है। जीवों में लक्ष्मी सर्वश्रेष्ठ है। वह विष्णु की पत्नी है। जीवों मे वही नित्य है, अविनाशी है।

1.Cultural Heritage of India (435&436)

अन्य जीव बद्ध है। जीवात्मा का परिमाण परमाणु के बराबर है। जीव दो प्रकार के है, पुरुष और स्त्री। यह पुरुष और स्त्री का अन्तर मोक्षावस्था मे भी बना रहता है। परमात्मा और जीवात्मा का सेव्य सेवक भाव का सबध है। निर्धारित नियमो के अनुसार प्रत्येक जीव का कर्तव्य है कि वह परमात्मा विष्णु की उपासना करे। उसकी उपासना से उसका अनुग्रह प्राप्त होता है। भगवद्गीता मे जो मार्ग बताए गए हें, उनमें से भक्ति मार्ग ही इस मत मे अपनाया गया है। इस मत के अनुसार तीन प्रमाण है– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। वेद नित्य स्वत प्रमाण है वैष्णव आगन्य प्रमाणिक ग्रन्थ है। पुराण भी बहुत प्रमाणिक ग्रंथ है। माधव ने रामानुज व शंकर दोनों के मतों का विरोध किया। वह अपने विचारों मे काफी स्वतत्र थे और कहते थे कि हरि, विष्णु या नारायण किसी भी नाम से पुकारो ईश्वर एक है। केवल शिक्षा या कर्मकांड ईश्वर प्राप्ति के लिए यथेष्ट नहीं है। मात्र ईश्वर भक्ति व अटूट प्रेम कर्म, ज्ञान और भक्ति अपने में पूर्ण नहीं है कितु एक दूसरे के पूरक है उन्होंने पवित्रता पर अधिक बल दिया। जिसके लिए अहिंसा, सत्यभाषण, साधना, अपरिग्रह, शुद्धता, सतोष, सादगी, अध्याय और ईश्वर भक्ति की अपेक्षा होती थी। मध्वाचार्य ने 36 ग्रन्थ लिखे, इन ग्रन्थो मे मुख्य उपनिषदों की टीकाएं भी सम्मिलित है उनके लिखे मुख्य ग्रन्थो में –

1. ब्रह्मसूत्रों पर ब्रह्मसूत्रभाष्य नामक टीका
2. ब्रह्मसूत्रों पर एक संक्षिप्त टीका ब्रह्मसूत्राभाष्य
3 ब्रह्मसूत्रों में से कठिन सूत्रों पर ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान टीका
4. भगवद् गीता की टीका "भगवद गीता भाष्य"

5 भगवद्गीता तात्पर्य निर्णय –इसमे भगवद् गीता के उपदेशों का वास्तविक अभिप्राय प्रकट किया गया है।

6 ऋग्भाष्य

7 तत्त्वविवेक

8 तत्त्वसख्यान

9 तत्त्वोद्योत

10 प्रपंचमिथ्यात्वखण्डन

11 प्रमाणलक्षण

12 महाभारततात्पर्यनिर्णय

13. भागवत पुराण की टीका भागवतव्याख्या और

14. विष्णुतत्त्व निर्णय।

द्वैतमत मे मध्व के बाद जयतीर्थ का नाम आता है। वह अक्षोभ्यतीर्थ के शिष्य थे। इनका समय14 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इन्होंने मध्वाचार्य के सभी ग्रन्थों की टीका की है। यदि इनकी महत्त्वपूर्ण टीकायें न होती तो द्वैतमत दार्शनिक दृष्टि से सारहीन हो जाता। महत्त्व के जिन ग्रन्थो की इन्होने टीकाएं की हैं वे है–

1. ब्रह्मसूत्रानुख्यान की टीका न्याय सुधा

2. प्रपंचमिथ्यात्व खण्डन की टीका पंचिका

3 ब्रह्म सूत्रभाष्य की टीका तत्त्व प्रकाशिका और

4. भगवद्गीता भाष्य की टीका प्रमेयदीपिका इन ग्रंथों में भी द्वैतमत के दार्शनिक महत्त्व का वर्णन है।

शैवमत

शैवाद्वैत मत का कथन है कि शिव सर्वोच्च देवता है। यह मत विशिष्टा द्वैत के ही अनुकूल है। श्रीकण्ठ इस मत के सबसे प्राचीन आचार्य माने जाते हैं। कुछ ऐसे भी धार्मिक समुदाय है जो कि सर्वथा आगम ग्रन्थों पर ही निर्भर हैं। तत्कालीन मध्य युग में कश्मीर में शैवमत प्रचलित था। जोनराज ने इसका वर्णन किया है। इनके अनुसार राजा प्रातः काल शैय्या से उठकर इस श्लोक [1] द्वारा शिवव- ना किया करता था। शैवमत के प्रर्वतक श्रीकण्ठ ने ब्रह्मसूत्रों का भाष्य किया है, वह भाष्य श्री कण्ठभाष्य ही कहा जाता है। वह शैव आगमों को वेदों के तुल्यही प्रामाणिक मानते हैं। इन्होंने इस मत के तीन सिद्धातों का उल्लेख किया है 1. पति (शिव) 2 पशु (जीव) और 3. पाश (बन्धन) अप्पय दीक्षित (1600) ने इस मत को बहुत बडी देन दी है। इन्होंने श्रीकण्ठ भाष्य की टीका शिवामणि दीपिका के नाम से की है। उन्होंने भारत तात्पर्य संग्रह ग्रन्थ लिखा है। इसमे महाभारत की इस प्रकार से व्याख्या की है कि वह शैवमतानुकूल व्याख्या की है। चारों सम्प्रदायों मे से प्रत्येक में बहुत कुछ बातें समान पाई जाती हैं।

पाशुपत

इस शाखा का दूसरा नाम नकुलीश पाशुपत शाखा है। शिव स्वामी है और उनके अतिरिक्त अन्य सभी पशु हैं। न कुलीश ने इस मत के सि-ातो का प्रचार किया था। पाशुपत सूत्र और हरदत्ताचार्य के ग्रन्थ इस शाखा के

---

1. पावकनिर्मलदृष्टिं बिबुधगणैरर्च्यमान पादमहम्।
   शशिकलादर्शयुतं गौरीशं शकरं वन्दे।।

   जोनराजकृत राजतरंगिणी (125)

प्रमाणिक ग्रन्थमाने जाते है। सर्वदर्शन सग्रह (1400 ई0) मे हरदत्ताचार्य का उल्लेख आता है।

शैव

यह शाखा शैव आगमों पर निर्भर है। इन आगमों में से कामिक, कारण, सुप्रभेद और कातुल ये बहुत अधिक प्रामाणिक आगम माने जाते है। शिव– सर्वोत्तम देवता है। बद्ध जीव इन 6 सिद्धांतों के ज्ञान से मोक्ष पा सकते हैं। ये छः सिद्धान्त हैं। 1. पति (स्वामी, शिव) 2. विद्या (तत्त्वज्ञान) 3. अविद्या 4 पशु (जीव) 5. पाश (बन्धन जैसे कर्म, मायादि 6. शिव भक्ति जिसके द्वारा बन्धन मुक्त होता है)। जीव को भक्ति का मार्ग अपनाना चाहिए। इस संप्रदाय में सांख्य और योग के सिद्धांतों का अनुसरण किया गया है। श्रीकण्ठ का ब्रह्मसूत्र भाष्य यद्यपि वेदान्त विषयक है तथापि यह सम्प्रदाय का समर्थक है। धारा के राजा भोज (1150 ई0–1054 ई0) का तत्त्व प्रकाश और रामकण्ठ (1150 ई0) तथा अघोर शिव (1150ई0 के लगभग) के ग्रन्थ इस शाखा के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। तमिल प्रदेश में इस शाखा को शैव सिद्धान्त कहते हैं। वहां पर यह शाखा शैव आचार्यों के द्वारा तमिल भाषा में लिखित विस्तृत साहित्य पर निर्भर है। कापालिक, कालामुख और लिंगायत आदि शाखाएँ पाशुपत और शैव शाखा की उप शाखाएँ है तथा उनसे सबद्ध हैं।

कश्मीरी शैवमत

काश्मीर में शैवमत का दो प्रकार से विकास हुआ है। एक स्पन्द शाखा ओर दूसरी प्रत्यभिज्ञा शाखा। ये दोनों शाखाए शैव आगमों पर निर्भर

है। स्पन्द शाखा का मत है कि शिव जगत का कर्ता है। वह जगत का उपादानकारण नही है। और न उसे उपादान कारण की आवश्यकता है। जगत् सत्य है वह जगत् की उत्पत्ति से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता है। मोक्ष प्राप्ति के दो साधन शाम्भव और आगव आदि है।[1] प्रत्यभिज्ञा का भी इन विषयो में यही मत है। साथ ही प्रत्यभिज्ञा शाखा का मत है कि जीव यद्यपि परस्पर पृथक है, परन्तु वे शिव से पृथक नहीं है। इस तथ्य की अनुभूति इस ज्ञान से होती है कि मै ईश्वर हूँ, मैं ईश्वर से पृथक नही हूँ। इसी ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव इस शाखा का नाम प्रत्यभिज्ञा (पहचानना) पडा। जो जीव माया के आवरण से ढके हुए है उनके हृदय में यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इस शाखा का झुकाव अद्वैतमत की ओर है।

उपर्युक्त सभी सत वैष्णव सम्प्रदाय के थे जिन्होने भक्ति मार्ग को प्रेरणा प्रदान की थी। परन्तु उस समय यह मार्ग बहुत लोकप्रिय न हो सका। क्योकि ये सभी मत दार्शन से प्रभावित थे और जन साधारण के समझ से परे थे। इस कार्य की पूर्ति 14 वीं शताब्दी में रामानन्द ने की।

रामानन्द

भक्ति आन्दोलन का आरंभ दक्षिण में हुआ। इसे उत्तर में लाने का श्रेय रामानंद जी को है, जो रामानुज के मतावलंबी राघवानन्द जी के शिष्य थे। 14 वी शताब्दी के अन्त में रामानन्द जी का जन्म प्रयाग (इलाहाबाद) मे हुआ था। उनकी शिक्षा इलाहाबाद व बनारस मे हुई। उन्होंने सम्पूर्ण देश मे भ्रमण किया तथा इसी दौरान मुसलमानों सहित सभी धर्म के विद्वान संतों

1.A Historical & Philosophical Study - K.C. Pande :
अभिनव गुप्ता (पेज –97)

से उनका सम्पर्क हुआ उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक था, उन्होंने ब्राह्मण (कान्यकुब्ज) होते हुए भी सभी जातियों धर्मों पदो तथा मुसलमानो को भी नर नारी के भेद–भाव के बिना अपना शिष्य बनाया। उन्होने राघवानन्द नामक गुरु से शिक्षा प्राप्त किया। उन्होने अपने विचार रामानुज सम्प्रदाय से प्राप्त किए जिनको उन्होंने सरल भाषा मे परिवर्तित कर लोकप्रिय बना दिया। रामानन्द ने भक्ति आदोलन व वैष्णव सम्प्रदाय को तीन प्रकार से प्रभावित किया। प्रथम– उन्होने सीताराम की भक्ति पर बल दिया। द्वितीय– उन्होने अपने उपदेश सस्कृत के स्थान पर सरल हिन्दी मे दिये जिससे यह आन्दोलन लोकप्रिय हुआ और साहित्य का निर्माण आरंभ हुआ तृतीय– उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से सभी जातियो और स्त्री– पुरुषो को समान स्थान दिया। इन्होने छूआ– छूत के भेद को मिटाया। इन्होंने सिद्वान्त के आधार पर जाति–प्रथा का कोई विरोध नही किया परन्तु उनका व्यावहारिक जीवन जाति समानता में विश्वास करने वाला था। उनके 92 शिष्यों मे से धन्ना जाट, सेनदास नाई , रविदास (रैदास) चमार व कबीर जुलाहा थे। उनके प्रयत्नो से भक्ति आंदोलन व वैष्णव सम्प्रदाय लोक प्रिय बना, निम्न जातियो का स्तर बढा और स्त्रियों के सम्मान में वृद्धि हुई। वास्तव में मध्य–युग का धार्मिक आन्दोलन रामानन्द से आरम्भ हुआ।

आचार्य रामानुज की पीढी में स्वामी रामानंद पहले संत थे जिन्होने भक्ति के द्वारा जन–जन को नया मार्ग दिखाया। उन्होंने एकेश्वरवाद पर जोर देकर हिन्दू मुसलमानों में प्रेम–भक्ति संबध के साथ सामाजिक समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने अन्य दार्शनिकों की भॉति कोरी दार्शनिकता का ज्ञान नहीं दिया बल्कि सुगमता व व्यापकता पर उन्होंने अधिक

जोर दिया। उन्होने न किसी देवता विशेष पर ध्यान केद्रित किया और न किसी उपासना पद्धति पर जोर दिया। जगह–जगह प्रयत्नपूर्वक इन निष्ठावान विचारको ने पडिताऊ भाषा का निषेध किया। उन्होंने ब्राहमणो व क्षत्रियो की उच्चता का खण्डन करते हुए भक्ति द्वार सबके लिए खोला। परिणामत रामानन्द की विचार धारा से एक नवीन आंदोलन का जन्म हुआ। उनके बाद कबीर, नानक, दादू अदि सतों का एक मात्र ध्येय सामाजिक धार्मिक भ्रष्टाचार से मानव को मुक्त कराना था।

कबीर –

मध्य युग में रामानन्द के सभी शिष्यो में कबीर का महत्त्व सर्वाधिक है। कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। कबीर विधवा ब्राहमणी के पुत्र थे जिनका लालन–पालन काशी के एक मुसलमान परिवार में हुआ था।उनके माता–पिता नीरू व नीमा थे। मध्ययुगीन संतो में कबीरदास की साहित्यिक व ऐतिहासिक स्मरणीय देन है। कबीर रहस्यवादी परम्परा के भी प्रवर्तक थे। वे मात्र भक्त नही बडे समाज सुधारक थे उन्होंने अपना तरसमय योगियों और सूफी सन्तों के साथ बिताया था। अधिक हिन्दू व इस्लाम दोनों के धर्मों के तत्वों को समझा तथा हिन्दू व मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया परिणाम स्वरूप इनके भक्तों में हिन्दू व मुसलमान बराबर संख्या में थे जिन्हें कबीर पन्थी कहा गया। कबीर काफी हद तक [illegible] स्थितियों को प्रभावित करने में सफल रहे थे, उन्होंने जनसाधारण के धर्म की सहजता या भक्ति की सहजता पर बल दिया। जन साधारण की भाषा मे उन्होने बताया कि निर्गुण प्रभु सबका है उस पर किसी व्यक्ति तथा धर्म– जाति आदि का

अधिकार नही है। यह भी सत्य है कि निर्गुण भक्ति धारा में कबीर पहले सत थे जो संत होकर भी अत तक शुद्ध गृहस्थ बने रहे एवं शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा को मानव की सफलताओं का आधार माना। इनके ईश्वर निराकार निर्गुण थे। ईश्वर की पहचान के लिए गुरु की अनिवार्यता आवश्यक थी। उन्होंने उपवास, व्रत, जोग, जाप, कब्रो की उपासना, तीर्थ व अन्य धार्मिक रीति–रिवाजों की कटु आलोचना की है। उन्होने जाति और मूर्तिपूजा का विरोध किया तथा अवतार के सिद्धान्त को अस्वीकार किया उन्होने ईश्वर की एकता पर बल देकर प्रेम, उपासना तथा भक्ति के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। उनकी शिक्षाए 'बीजक' में संगृहीत है। सरल हिन्दी में लिखी इन शिक्षाओं का जनसाधारण पर बहुत प्रभाव पडा। वे धन को एक सीमित मात्रा में ही आवश्यक मानते थे। धन का संचय करना या उसका लालच करना वे दोष मानते थे। इस प्रकार समाज की आर्थिक क्रिया की ओर भी कबीर ने ध्यान दिया, इसी कारण घर छोड़कर साधु बनना उन्हें स्वीकार न था। हिन्दू दर्शन का ज्ञान था और वे राम–भक्ति में विश्वास करते थे। परन्तु कबीर का विश्वास बाह्य आडम्बर, कर्मकाण्ड जाति प्रथा, आश्रम व्यवस्था और धर्म के अन्तरों मे न था। उन्होंने कोई नवीन धर्म नहीं चलाया। उनके अनुसार वह राम व अल्लाह दोनों की संतान है, उनका कहना था कि आरम्भ में न कोई तुर्क था न कोई हिन्दू न कोई नस्ल थी न कोई जाति। कबीर ने भक्ति को ही मोक्ष का मार्ग बताया है, कबीर के मुख्य उपदेश निम्न प्रकार के थे–

1. संस्कृत एक कुएं के जल के समान है जबकि जन भाषा एक बहते हुए झरने के समान है।
2 यदि पत्थर की पूजा करने से भगवान मिलते है तो मैं पहाड पूजूंगा।

3 यदि जल मे स्नान करने से निर्वाण प्राप्ति सभव होती तो सबसे पहले को मेढकी को प्राप्त होती है।

4. यदि वस्त्रहीन होकर घूमने से हरि प्राप्त होते तो सबसे पहले उसे जानवर प्राप्त करते।

5. ओ! काजी पुस्तको को पढने वाले मार दिए जाते है, पुस्तक छोडो राम की भक्ति करो।

6. अनेक पुस्तके पढकर भी एक व्यक्ति पडित नही हो सकता, पडित तो वह है जो प्रेम के ढाई अक्षर को समझता है।

7. विभिन्न धर्मों और ईश्वर में केवल नाम का अन्तर है। सोना एक है जेवर बन जाने से उसके नाम अलग–अलग हो जाते हैं।

8. धर्म के कारण झगडा करने वाले अज्ञानी हैं।

9. नामविवाद से रहित ईश्वर ही सत्य व निर्वाणप्राप्ति का मार्ग है।

कबीर ने धर्म के सबंध मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार उपस्थित किए है। उन्होंने किसी धार्मिक विचार को इसलिए नहीं स्वीकार किया कि वह धर्म का अंग बन चुका है अपितु अंध विश्वासों, व्रत, अवतारोपसना, ब्राह्मण के कर्मकांड को अकर्मण्यता की भूमि से हटा कर कर्मयोग की भूमि पर लाकर खडा कर दिया। कबीर ने पौराणिक धार्मिक परम्पराओ का भी डटकर विरोध किया। वे भक्ति और बाहरी आडंबरों का संबंध सूर्य व अंधकार का सा मानते थे जो एक साथ नहीं रह सकते। सारांश यह है कि कबीर धार्मिक क्षेत्र में सच्ची भक्ति का संदेश लेकर प्रकट हुए थे। उन्होंने निगुर्ण –निराकार भक्ति का मार्ग अपना कर मानव के सम्मुख भक्ति का मौलिक स्वरूप रखा। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि कबीर के राम राजा दशरथ के पुत्र राम

नही है वरन् घर–घर मे निवास करने वाली अलौकिक शक्ति है। जिसे राम–रहीम कृष्ण–खुदा कोई भी नाम दिया जाए। उसका रूप एक ही है। उसकी प्राप्ति के लिए न तो मदिर की आवश्यकता है न मस्जिद की। वह सबमे विद्यमान है और सभी उसे भक्ति तथा गुरु की कृपा से प्राप्त किया जा सकता है।

सामाजिक एव आर्थिक विचार –

संतो की ओर से जाति –प्रथा को चुनौती बहुत पुराने समय से मिलती आ रही हे। ऐसे सतो मे सर्वप्रथम नाम महात्मा बुद्ध का है। असल में, कबीर नानक आदि उसी धारा के संत है जो बुद्ध के कमडल से निकली थी। किन्तु कई बार बंधन ढीले होने के बावजूद आज भी जाति प्रथा कायम है। कबीर ने मध्यकालीन विषम सामाजिक परिस्थितियो में इस प्रथा का डटकर विरोध किया और बिखरे हिन्दू समाज को सगठित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कबीर की दृष्टि मानव की प्रगति विरोधी समाज की व्यवस्था के इस तथ्य पर पहुच गई थी कि वहा विचार के धरातल पर तो समानता का बोलबाला अकसर किया जाता है पर आचार के धरातल पर उनमें भेदभाव है। अत जीवन भर कबीर हिदू– समाज को समझाते रहे कि जन्म से सभी समान है। जिस व्यक्ति ने पवित्र कर्मो से भक्ति को अपनाया उसकी जाति का संबंध ा पूछना अनुचित है। कबीर ने कर्म की श्रेष्ठता के आगे जाति को महत्व नहीं दिया। दैवी एकता के तर्क से कबीर ने ऐसा प्रभाव दिखाया कि उन के शिष्य हर जाति से सबंधित थे, उनमे जातिगत भेदभाव भाव था।

आर्थिक दृष्टि से कबीर जन–समाज के लिए धन को अनिवार्य

तत्त्व माना और उसे शरीरिक परिश्रम द्वारा आवश्कता के अनुकूल अर्जित करने एक उपभोग करने का सदेश दिया। वे उतने ही धन को सर्वोपरि समझते थे, जो दैनिक आवश्यकताओ की भली प्रकार पूर्ति करे। एक स्थान पर वे लिखते है कि हे माधव, मुझसे भूखे पेट भक्ति नही होगी। लो अपनी माला सभालो, तुम तो कुछ दोगे नही तो लो मै ही कुछ मांग लूँ।" कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति भूखे पेट नही होती और भोजन के लिए धन की आवश्यकता होती है परन्तु धन संचय एवं वैभव की उन्होंने निदा की तथा लोकहितार्थ धनोपार्जन को श्रेयस्कर बताया कि कोई किसी का आर्थिक शोषण न कर सके। वे मानते है कि मानव मे कर्तव्य का विवेक हो तो समाज स्वस्थ हो सकता है। इस प्रकार उन्होने अपने व्यक्तित्व से कथनी व करनी दोनो के द्वारा युग–युग से पीडित समाज के निम्न वर्ग को आत्मसम्मान दिया। उन्होने उपेक्षितों में आशा और विश्वास को पैदा करते हुए जीवन की एक नवीन दिशा का सकेत दिया।

सारांश मे कबीर ने जीवन के सभी क्षेत्रो मे महत्त्वपूर्ण विचारधारा का बीजारोपण किया। उन्होंने विचारो की उच्चता, ताजगी तथा सादगी से परवर्ती विचारों को बहुत पीछे छोड दिया। वैसे तो उन्होने मानव समाज को बहुत कुछ दिया किन्तु समकालीन समाज व धर्म के क्षेत्र में उनकी तीन बातो का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पडा था। ये बातें हैं।

1 वर्णव्यवस्था पर कुठाराघात

2 साप्रदायिक तत्त्वों का बहिष्कार और

3 भक्ति की सादगी एवं व्यापकता का प्रचलन।

उनके विचार किसी व्यक्तिगत स्वार्थ पर नहीं टिके थे। अतः

जिस भी कुरीति पर उन्होने चोट की पूरी निर्भीकता से की। उनके विचारो ने धर्म, दर्शन व समाज को प्रभावित किया क्योंकि वो समकालीन वातावरण में उपयुक्त था। जैसा कि मैकोलिफ ने कहा कि यह एक निडर अन्वेषी था, भारत के हिन्दू– मुसलिम समुदायो की एकता का महान अग्रदूत था और मानवता की आस्था का समर्थक था। उसका उपदेश था कि दैवी शक्ति मानव की समग्रता मे प्रकट होती है। इस प्रकार कबीर उच्च कोटि के निर्गुण भक्त ही नहीं थे अपितु वे समाज सुधारक, उपदेशक, एवं प्रगतिशील विचारक भी थे।

नानक –

कबीर की शांति हिन्दू और मुसलमानों की एकता में विश्वास करने वाले एवं पारिवारिक जीवन बिताने वाले एक अन्य संत नानक (1469–1538 ई0) थे। कबीर के बाद मध्युगीन समाज को प्रभावित करने वाले संतों मे नानक का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण रहा हे। वैसे निर्गुणमार्गी संतो में नानक का व्यक्तित्व बहुत शांत है विचारों और सामाजिक आचारों की दुनिया मे परिवर्तन लाने वाले नानक ने प्रेम, मैत्री और सहानुभूति और सर्वहितचितन के द्वारा बिना किसी पर आघात किए कुसंस्कारो को नष्ट करने का प्रयास किया। जहां एक ओर उन्होंने मानव के सामाजिक दुःखों का अनुभव किया, वहा दूसरी ओर अधविश्वासो और गलत मान्यताओं को भी दूर करने का प्रयास किया। भेदभाव से ऊपर उठकर वे हिंदू– मुसलमानों को एक दृष्टि से देखते थे। नानक ने अपने उपदेश छोटी कविताओं में दिया जिन्हें सिक्खो के पांचवे गुरु अर्जुन ने आदि ग्रन्थ में संकलित किया, उनके "जप" जी एक मुख्य कविता है जो नानक के विचारों को स्पष्ट करती है, उसी का एक भाग

मूल–मत्र है जो नानक के आध्यात्मिक विचारो को स्पष्ट करती है उनके अनुसार ईश्वर एक है और उसका नाम है आदि सत्य। वह अनन्त है और संसार का निर्माता है। नानक का विश्वास ईश्वर की एकता मे था। वे ईश्वर के अवतारवाद में विश्वास नही करते थे उनके अनुसार ईश्वर को मनुष्य रूप में जन्म लेने की कल्पना करना करना उसे जन्म मृत्यु के पाश मे बाधना है जबकि ईश्वर उससे मुक्त होता है। नानक के अनुसार मनुष्य का प्रमुख लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है और मोक्ष प्राप्ति का अर्थ है आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना आध्यात्मिक उन्नति द्वारा ही सम्भव है। उनके अनुसार आध्यात्मिक उन्नति के अभाव मे आत्मा निरन्तर जन्म व मृत्यु के बंधन में बधी रहती है। जब व्यक्ति एक सीमा तक आध्यात्मिक प्रगति कर लेता है तब उसकी आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है और इस प्रकार उसे जन्म व मृत्यु के घेरे से मुक्ति मिल जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि नानक हिन्दू–दर्शन के जीव के आवागमन के सिद्धात में विश्वास करते थे। नानक संसार को माया या छलावा नहीं मानते थे उनके अनुसार संसार का अस्तित्व है यद्यपि वह उसे अस्थायी और नष्ट हो जाने वाला मानते थे। नानक ने व्यक्ति को घर परिवार छोडकर संन्यासी या साधु बन जाने की सलाह नही दी है। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए। व्यक्ति को भीख मांगने या किसी से भोजन मांगने के स्थान पर ईमानदारी और परिश्रम से धन कमाकर स्वयं का और अपने परिवार का पालन करना चाहिए। वह उसे

अन्यो के साथ मिलकर ईश्वर को याद करना भी वह आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार धार्मिक कर्मकाण्ड जैसे व्रत, पूजा, तीर्थयात्रा, तिलक लगाना आदि व्यक्ति को दया, क्षमा सत्य आदि सद्‌गुणो का पालन करना चाहिए जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार क्रोध, ईष्या, द्वेष आदि दुर्गुणो को वह आध्यात्मिक प्रगति में बाधक मानते थे। नानक मूर्ति पूजा के विरोधी थे और किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में उनकी आस्था न थी। उनके अनुसार कर्मकाण्ड मूर्ति पूजा, अवतार वाद और धर्मग्रन्थो अथवा पैगम्बरों में अंधविश्वास मोक्ष प्राप्ति में बाधा है। उनका कहना था कि व्यक्ति जैसा कर्म करेगा उसी के अनुसार उसको [illegible] प्राप्त होगा। कर्म सिद्धांतों को वे प्रधानता देते थे। वेकहते थे कि जो व्यक्ति जैसा बोयेगा वैसा काटेगा अर्थात अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा व बुरे कर्म का परिणाम बुरा होगा। व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार यह जीवन प्राप्त करता है, और निर्वाण प्राप्ति केवल वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त करता है। नानक ने जाति– प्रथा का विरोध किया है। नानक ने स्त्री को पुरुष का साथी व सहयोगी बताया है उन्होंने स्त्री को भी समान रूप से मोक्ष का अधिकार दिया है।

नानक के विचार वेद, उपनिषद् और भागवत् जैसे हिन्दू धर्म ग्रन्थों से ही लिए गए थे। कर्म सिद्धान्त जीव के अवागमन के सिद्धांत, निष्काम कर्म करना आदि हिन्दू धर्म के सिद्धांत रहे हैं। परन्तु नानक ने हिन्दुओ के अवतारवाद, नर्क और स्वर्ग के विचार, जाति व्यवस्था [illegible] आदि का विरोध किया। नानक नेस्वय अपना कोई पृथक धार्मिक सम्प्रदायबनाने का भीा विचार नहीं किया। उन्होंने तो केवल शिष्य बनाये थे जो सिख कहलाने लगे। बाद मे विभिनन कारणों के फलस्वरूप सिख धर्म एक पृथक् धार्मिक सम्प्रदाय

वस्तुत. गुरु नानक मे विचारपरक जनतात्रिक सिद्धातो के महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते है जो समाजवादी समाज का पूर्वाभास देते है। यहा सप्रदायवाद और जातिवाद की निदा के सकेतो के साथ–साथ उनकी सामाजिक दायित्व की भावना का उदार रूप देखनेको मिलता है।

नानक ने जिस धार्मिक आन्दोलन को आरभ किया था उसे उनके अनुयायियो ने आगे बढाया कबीर ने समाज की बुराइयो की ओर ध्यान आकृष्ट कराया किन्तु गुरु नानक के उपदेशो में एक सुनिश्चित धर्म के बीज मौजूद थें यही कारण है कि समय बीतने पर सिख मत ने एक पूर्ण धर्म का आकार ले लिया। पंजाब मे भक्ति आंदोलन के सामाजिक –राजनीतिक आयाम के अध्ययन से पता चलता है कि किस प्रकार विरोध परक आदोलन एक नए सामाजिक– राजनीतिक संगठन एव उसके विकास था कारण बन सकता है।

अन्य संत

कबीर व नानक के साथ–साथ निर्गुण भक्ति की परपरा मे दादू का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी सुधारवादी भावना तथा रचनाओ का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है अन्य निर्गुण संतो की तरह दादू भी बाह्य साधना से हट कर वैयक्तिक साधना पर जोर देते है। परमात्मा के उपासक सत सप्रदायों मे दादू की यह विशेषता है कि इसमें पुस्तकीय ज्ञान का तिरस्कार न कर लिखित रूप मे सत वाणियो की रक्षा पर विशेष जोर दिया गया है। संक्षेप में दादू ने विनम्रता, अहं से निर्लिप्त रहने और भक्ति के माध्यम से ही ईश्वर प्राप्ति पर

जोर दिया है। दादू ग्रन्थावली से सकल्पनाओं मे से एक अत्यधिक महत्वपूर्ण सकल्पना गुरु की संकल्पना।

महाराष्ट्र के सत

मध्यकालीन भक्ति आदोलनों के विकास तथा लोकप्रियता मे महाराष्ट्र के सतो का महत्वपूर्ण योगदान है ज्ञानेश्वर, हेमाद्रि और चक्रधार से आरंभ होकर रामनाथ तुकाराम, नामदेव ने भक्ति पर बल दिया है तथा एक भगवान की संतान होने के नाते सबकी समानता के सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया। नामदेव ने भरपूर कोशिश के साथ जाति–प्रथा का खण्डन किया। अगर सामाजिक क्षेत्र में जाति–प्रथा को उखाडने मे सफल न भी हुए हों तो भी उन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में आचरण की शुद्धता, भक्ति की पवित्रता तथा सरसता और चरित्र की निर्मलता पर बल दिया। नामदेव की मराठी तथा हिन्दी रचनाओं में इनकी निर्गुणवादिता का रूप स्पष्ट दिखाई पडता है। उन्होंने क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से महाराष्ट्र के संतो की न केवल वार्षिक तथा सामाजिक उन्नति की अपितु मराठों के राजनीतिक उत्थान में बुनियादी कार्य किया। उनके विचारों से महाराष्ट्र की जनता में एकता व नवीन संगठन का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस प्रकार मध्ययुगीन इतिहास पर महाराष्ट्र का सतों को महत्वपूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वल्लभाचार्य –

कृष्ण की भक्ति में विश्वास करने वाले एक महान संत वल्लभाचार्य (1479–1531) हुए। उनके पिता लक्ष्मण भट्ट तेलंगाना के ब्राह्मण थे। वल्लभाचार्य जब छोटे ही थे तो उनके मात–पिता का देहान्त हो गया था। ये

इतने योग्य थे कि इन्होने अल्पायु मे ही चारो वेद, छ शास्त्रो व 18 पुराणो का अध्ययन कर लिया। काशी मे अपनी शिक्षा पूर्ण करने के बाद वे अपने गृहनगर विजयनगर चले गए और कृष्णदेव राय के समय मे उन्होंने वहॉ वैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा स्थापित की। वे भी एक पारिवारिक सत थे। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी था। वे द्वैतवाद मे विश्वास करते थे और श्रीनाथ जी के समय मे कृष्ण भक्ति पर बल दिया। उन्होने अनेक ग्रथ लिखे जिनमें से 'सुबोधिनी' और 'सिद्धांत –रहस्य' बहुत विख्यात हुए। उनका बाद का समय अधिकांशतः वृन्दावन और काशी मे व्यतीत हुआ। वे कृष्ण को ब्रहमपुरुषोत्तम और परमानन्द का स्वरूप मानते थे। वे उनके प्रतिपूर्ण प्रेम और भक्ति को ही निर्वाण प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बताते थे। भक्ति और प्रेम के प्रति वल्लभाचार्य का दृष्टिकोण अत्यंत भावुक था जिसके कारण उन्होंने कविता, गान, नृत्य, [illegible] आदि को प्रोत्साहन दिया। कृष्ण का गोप–गोपियों के बीच रासलीलाएं रचाने मे भी उनका विश्वास था और उन्होने उसे बहुत लोकप्रिय बनाया। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने कृष्ण भक्ति को और भी अधिक [illegible] बनाया। अकबर ने उन्हे गोकुल और जैतपुरा की जागीरें प्रदान की। औरगजेब के समय मे श्रीनाथ जी की मूर्ति को उदयपुर पहुंचा दिया गया जहा वह नाथद्वारा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

18वीं व 19वीं सदी में उनके कुछ समर्थकों ने राधा कृष्ण की इस सम्प्रदाय में कुछ विकृत स्वरूप प्रदान किया जिसके कारण इस सम्प्रदाय मे कुछ दोष आए परन्तु तब भी यह सम्प्रदाय कृष्ण भक्ति को लोकप्रिय बनाने में पर्याप्त सफल रहा।

चैतन्य

भक्ति मार्ग के एक अन्य महान सन्त चैतन्य हुए। 1486 ई0 बगाल के नदिया नामक स्थान पर इनका जन्म हुआ था। नदिया उस काल मे धार्मिक विद्या का एक मुख्य केन्द्र स्थान था। इनका परिवार ब्राह्मण था जो सिलहर से आकर नदिया मे बस गया था। चैतन्य के बचपन का नाम निमाई था। बचपन से ही उन्हे हरि के नाम से प्रेम था और उनके खेल कूद और नटखटपन मे श्री कृष्ण की बचपन लीलाओ से सामंजस्य था। उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया गया और उन्होने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। उन्होने तर्क भाषा और व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया उन्होने नदिया के और निकट के क्षेत्रो के विद्वानों से वाद–विवाद किया और विद्वत्ता में ख्याति अर्जित की। उन्होंने विवाह किया और और पहली पत्नी की शीघ्र मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह भी किया। उन्होंने नदिया में ही शिक्षक का कार्य आरम्भ किया। 1508 ई0 में वह अपने मृत पिता का श्राद्ध करने के लिए गया की तीर्थयात्रा करने गये। वहां वैष्णव धर्म के माधव सम्प्रदाय के अनुयायी और माधवेन्द्र के शिष्य ईश्वरपुरी ने उन्हें कृष्ण–मंत्र दिया। वापस आते समय यात्रा के दौरान उन्हे कृष्ण–दर्शन हुआ। उसने उनके जीवन को पूर्णतया नवीन मोड प्रदान किया। नदिया पहुंच कर उन्होंने शिक्षा व अध्ययन दोनों को ही छोड़ दिया और मात्र कृष्ण भक्ति ही करने लगे। उनके भक्तिभाव से प्रभावित होकर बहुत से लोग उनके पास एकत्रित होने लगे चैतन्य ने बहुत शीघ्र संन्यासी बनने का निर्णय लिया। 1510 ई0 में केशव भारती नामक संन्यासी ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी और श्री कृष्ण चैतन्य नाम दियाा।

चैतन्य के विचारो का आधार मूलतया भागवत पुराण राधा–कृष्ण

के प्रेम की कविताओ का प्रभाव था। जिन्होने बगाल मे वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग को लोकप्रिय बनाया। चैतन्य सम्भवतया उन भावपूर्ण प्रेम कविताओ से प्रभावित हुए थे। जयदेव की रचना का राधा कृष्ण का प्रेम आत्मा द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम का भाव था। चैतन्य का कृष्ण प्रेम भी इसी प्रकार का था।

चैतन्य कृष्ण भक्ति के समर्थक थे। ईश्वर प्राप्ति के लिए उन्होने राम के स्थान पर ईश्वर प्रेम और भक्ति पर बल दिया। उनके लिए प्रेम एक आध्यात्मिक भावना का नाम था। एक व्यक्ति का ईश्वर के प्रति प्रेम उनके लिए एक आत्मा का ईश्वर के प्रति प्रेम था। कृष्ण के रूप में ईश्वर प्राप्ति या निर्वाण प्राप्ति का एकमात्र मार्ग था। चैतन्य का ईश्वर –प्रेम अदभुत था। वे श्रीकृष्ण का नाम लेते हुए हसते थे, रोते थे, नाचते थे, गाते थे और अक्सर मूर्छित हो जाते थे। उन्होने भक्ति मे कीर्तन करने को मुख्य स्थान दिया जिसमें व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर गाते–बजाते हुए कृष्ण का नाम लेते व भजन गाते थे वे और उनके शिष्य पुरी की सडको पर भजन–कीर्तन करते हुए नाचते गाते थे और इतने मस्त हो जाते थे कि उनमे से अधिकतर मूर्च्छित हो जाते थे अथवा अर्ध पागलपन की अवस्था मे पहुंच जाते थे। चैतन्य ने मूर्ति–पूजा व धार्मिक ग्रन्थो की श्रेष्ठता बनाए रखा परन्तु उन्हे आडम्बर व कर्मकांडों से घृणा थी। उन्होने विवाह, श्राद्ध आदि धार्मिक कार्यो को सरल बनाने का प्रयत्न किया यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने सामाजिक सुधार को अपना लक्ष्य नही बनाया था, चैतन्य समाज सुधारक नहीं थे। इस कारण उन्हें सामाजिक कुरीतियो की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु ईश्वर व धर्म में सभी व्यक्तियो और स्त्री–पुरुषों को उन्होने समान माना है। चैतन्य वस्तुत. वैष्णव

सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे मूर्ति पूजा भी बगाल के वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियो के लिए ईश्वर प्राप्ति का मुख्य साधन रहा। चैतन्य के जीवन व विचारो को जानने के लिए एक मुख्य स्रोत 16 वी सदी के अन्तिम वर्षो मे कविराज कृष्णदास द्वारा लिखा गया चैतन्य –चरितम् नामक ग्रन्थ है।

15 वीं शताब्दी मे नामदेव के भक्तिमार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। वह जाति–भेद में विश्वास नही करते थे मुसलमान भी उनके शिष्य थे। वे मूर्ति पूजा व कर्मकाड के विरोधी थे। उपर्युक्त संतो के अतिरिक्त अन्य अनेक महान संत हुए। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, जनतीर्थ, विद्याधिराज, रविदास, मलूकदास, चण्डीदास, विद्यापति, मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि विभिन्न महान सत समय –समय पर हुए । भक्ति मार्ग कई सदियो तक प्रभावपूर्ण रहा। साथ ही साथ भक्तिमार्ग की धारा सम्पूर्ण मध्य युग मे अविरत गति से बहती रही। भक्ति मार्ग कई सदियो तक प्रभावपूर्ण रहा। पंजाब से लेकर बगाल तक और हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक भारत का कोई भी ऐसा भाग न था जहां यह आन्दोलन भारत में बौद्ध धर्म के प्रसार के पश्चात् नहीं हुआ। 19 वी शताब्दी के धार्मिक पुनरुद्धार आदोलन का क्षेत्र और समय उसकी तुलना मे बहुत सीमित रहा। इसी से इस आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट है।

भक्ति आंदोलन व्यापक था और सारे देश मे उसका प्रचार हुआ। यह एक जनसाधारण का आंदोलन था और इसके कारण उसमे एक गम्भीर जागृति उत्पन्न हुई। बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारत में इतना व्यापक और लोकप्रिय अन्य कोई आंदोलन नही हुआ। इसके दो कारण थे पहला

हिन्दू धर्म का सुधार करना, जिससे वह इस्लामी प्रचार तथा विदेशी आक्रम
से अपनी रक्षा कर सके तथा दूसरा तथा इस्लामी धर्मो मे समन्वय तथा दो
सप्रदायो मे मित्रतापूर्ण सबध स्थापित करना। पहले उद्देश्य मे इसे सफल
मिली, पूजा–पाठ में कुछ सरलता आयी और परम्परागत जाति व्यवस्था कु
उदार हुई। हिन्दू जनता में ऊँच तथा नीच वर्गों के लोग अपने–अपने अने
गूढ विचारो को भूलकर सुधारकों, के इस संदेश में विश्वास करने लगे f
ईश्वर की दृष्टि मे सभी समान है और जन्म मोक्ष के मार्ग मे बाधक नही
सकता। आरम्भ मे हिन्दुओ में मूर्तिपूजा न थी सम्भवतया इसे उन्होने बौद्
से प्राप्त किया, जब मुसलमानी आक्रमण ने इसे दुष्कर बना दिया तो मध्ययु
के धर्म प्रचारको ने मूर्ति पूजा को अनावश्यक बताया| इस्लाम हिन्दू जाति प्र
से लाभान्वित हुआ था| अत धर्म प्रचारकों ने जाति प्रथा के बन्धनो क
समाप्त करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त सस्कृत विद्या के अध्ययन व
सुविधा न होने से और हिन्दू शिक्षालयों के अभाव मे हिन्दुओं के बौद्धिक स्त
का ज्ञान–मार्ग को समझने योग्य न होने से भक्ति मार्ग उनके सम्मुख सब
अधिक सरल और जनसाधारण के समझने योग्य मार्ग रह गया। राजनीतव
सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से पदाक्रान्त हिन्दुओ के पास सम्भवतया ईश्व
पर आश्रित होने के अतिरिक्त कोई अन्य रास्ता नहीं रह गया था। भक्ति मा
व भक्ति आदोलन में संघर्ष की भावना का अभाव भी इस का एक कारण था
तत्कालीन युग में इस आंदोलन ने थोडी बहुत सफलता प्राप्त की, परतु व
सफलता न तो प्रभावी थी और न ही स्थायी। हिन्दू धर्म की सुदृढ प्राचीरों व
यह आंदोलन न तोड़ सका इस कारण हिन्दू धर्म में सुधार करने में इ

आदोलन की क्षमता सीमित और अस्थायी सिद्ध हुई। परन्तु फिर भी आत्मा को जीवित रखने और शक्ति प्रदान करने मे उसका योगदान अमूल्य रहा है। इस आदोलन के फलस्वरूप यह ध्यान देने योग्य बात है कि निर्गुण संतो की सामतवादी धारणा ने मुसलिम धर्म स्वीकार कर लेने वाले हिन्दुओं को सतुलित स्तर पर हिन्दू भक्त के रूप मे पुन धर्म परिवर्तन करने का आधार प्रस्तुत किया। कुछ सीमाओ के बावजूद इस आंदोलन की उपलब्धियॉ विलक्षण थी। अपने संदेश से वे समाज के शांति पूर्वक रूपांतरण के लिए आधार प्रस्तुत कर रहे थे। सच तो यह है कि महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, तथा बंगाल के धर्मो व देश के अलग–अलग प्रयासो द्वारा हिन्दू– मुसलिम संस्कृतियों के प्रतिकूल रूप का परिशोधन किया गया। 14 वी शताब्दी से ही हिन्दू –मुस्लिम धर्मों के उन तत्त्वों का संगत विरोध आरंभ हो चुका था जो सांप्रदायिक सामंजस्य तथा स्वाभाविक सहानुभूति के मार्ग मे बाधा स्वरूप खडे थे। दूसरे कारण के आधार पर इस आंदोलन को बहुत सफल तो नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि तत्कालीन समय में तो इसका प्रभाव बहुत कम रहा। और स्थायी प्रभाव तो उसका हुआ ही नहीं हिन्दू– मुसलमानों में पारंपरिक अन्तर आज भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। परन्तु एक अन्य दृष्टि से यह आंदोलन बहुत महत्वपूर्ण रहा कि विभिन्न संतों ने अपनी–अपनी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य को काफी समृद्धशाली बनाया इस कार्य में उन के उपदेश, भजन कविता, व दोहों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। हिंदी, बंगला मराठी आदि सभी भाषाओं के साहित्य निर्माण उसके द्वारा सम्भव हुआ। इस प्रकार भक्ति कालीन प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के विकास के इतिहास में स्वर्ण युग सिद्ध

हुआ। इस प्रकार मध्य युग का यह भक्ति आदोलन महत्त्वपूर्ण तथा अपने युग की एक महान विशेषता माना गया।

भारत मे इस्लाम के आगमन के फलस्वरूप कई प्रकार के आदोलनो को जन्म मिला, जिनमे हिदू और मुसलमान इन दो समुदायो को परस्पर निकट जाने का प्रयास था। या फिर इस्लाम मे भी कुछ सुधार करने की कोशिश की गई थी। भारत मे बडी सख्याओं मे निम्न जाति के लोगों ने धर्म परिवर्तन के बाद भी अपने पुराने रीति रिवाजो व अन्ध–विश्वासों को कायम रखा जिनसे इस्लाम अपने मूलधर्म सिद्धांत 'शरीयत' से अलग होने लगा। धर्म में सुधार के लिए कई रहस्यवादी संगठनों अथवा सिलसिला का सयोजन किया गया। आइने–अकबरी मे अबुल फजल ने ऐसी चौदह सिलसिलो का उल्लेख किया है, इनमें अधिकाश रहस्यवादी समूह अथवा सिलसिला की उपशाखाएं थी। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, कादरी, शत्तारी, नक्शबंदी अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इनमें से प्रत्येक धार्मिक ग्रंथ की शुरुआत भारत से बाहर हुई किन्तु संस्थापकों और उपदेशकों के प्रचार के कारण यहां काफी लोकप्रिय हो गए। इनमे से कई उपदेशक यहां आकर अपने मत के प्रचार के लिए सस्था स्थापित करके बस गए। इन मतो मे आपसी अंतर भी रहा। उदाहरणार्थ चिश्ती 'सभा' में विश्वास रखते थे, जिसके अनुसार गीत और संगीत आत्मोत्थान के माध्यम के रूप में उपयोगी थे तथा उनकी यह मान्यता थी कि 'शरीयत' में इसकी व्यवस्था है। किन्तु कई उलेमा तथा धार्मिक विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते थे। चिश्ती के अनुसार शरीयत की उपासना पद्वति में ही व्यक्तिगत और एकांत साधना की रीति चलाई गई थी। इसके अनुसार

ईश्वर व उपासक का सबध उपासना के द्वारा अलौकिक काव्यमय स्तर तक पहुचाता था। ये चारो सगठन धन–सचय तथा सुहरावादियो का ऐसा विश्वास था कि मन ईश्वर मे लीन है तो धन संचय और वितरण करने में कोई आपत्ति नही है। जबकि चिश्ती मानते थे कि अपनी सभी आवश्यकताओ के लिए भी ईश्वर पर ही निर्भर होना सच्ची भक्ति है। चारो सगठन शरीयत के अनुसार चलना उचित मानते थे किन्तु कादरी और नक्शबंदी नियम पालन में बडे कट्टर थे। चिश्ती पथ सिजिस्तान के मूल निवासी ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती ने भारत मे चिश्ती पंथ की शुरूआत की थी। वे 1193 ई0 मे भारत आए तथा राजनीतिक व धार्मिक महत्त्व के स्थान अजमेर पहुंचे। वे अत्यधिक दयालु तथा मानवतावादी थे। उनके पथ का हिन्दुओं पर बहुत प्रभाव पडा, लोग बडी सख्या में उनके शिष्य बन गए। उनके शिष्यो में शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी और शेख हमीदुद्दीन (1276 ई0) महत्त्वपूर्ण थे काफी (1235 ई0) ने दिल्ली मे तथा हमीद ने राजस्थान में अपने पंथ का प्रचार किया। हमीद का प्रमुख शिष्य फरीद्उद्दीन मसूर गंज–ए– शवर था। वह अपने पीछे कई खलीफाओं को छोड गए थे जिनमें शेख निजाममुद्दीन औलिया सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। उनके नेतृत्व मे सिलसिला का प्रचार–प्रसार देश के अन्य भागों में हुआ। वे एक प्रकार के धार्मिक साम्राज्य की स्थापना मे सफल हुए जिसे उनके शिष्यों ने तीस वर्षों से अधिक समय तक सुरक्षित रखा। इन खलीफाओ के प्रयास के फलस्वरूप भी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, गुजरात और मालवा तथा सुदूर दकन में भी इस पथ के केद्रों की स्थापना हो गई। अपनी पुस्तक "सम आस्पेक्टस आफ रिलिजन एंड पौलिटिक्स इन इंडिया ड्यूरिंग द थर्टीन सेंचुरी" में चिश्ती अहमद निजामी ने ठीक ही कहा

है कि भारत मे चिश्ती सतो की सफलता तथा लोकप्रियता उनके द्वारा भारतीय परिस्थितियो तथा धार्मिक प्रवृत्तियो की जानकारी तथा भारतवासियो के उत्साह के कारण ही सभव हो सकी थी। चिस्तियो की प्रवृत्ति उदार थी और वे मानते थे कि ईश्वर तक पहुचने के कई रास्ते है वे अद्वैतवाद के परपरागत सिद्धातों मे विश्वास करते थे। इस पथ के सिद्धान्तो का प्रारंभिक संकेत उपनिषदो मे भी है। इस पंथ के सतो के अत्यत सादा तथा सरल रहन–सहन ने हिदुओ को भी प्रभावित किया।

सुहरावर्दी पथ

मध्यकालीन भारत मे सुहरावर्दी ही ऐसा अन्य सिलसिला था जिसके अनुयायी यथेष्ट संख्या मे थे। बगदाद के शिक्षक शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी (1154) इस सिलसिला के सस्थापक थे। भारत मे इसका प्रसार उनके शिष्यो जलालुदीन तबरीजी और बहाउद्दीन जकारिया के द्वारा हुआ। तवरीजी ने बंगाल को अपना क्षेत्र बनाया तथा बडी संख्या मे हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन कराने के उपरात वहा एक खानकाह की स्थापना की। शेख रूक्नुद्दीन 'अबुलफत' इस पंथ का महत्वपूर्ण खलीफा हुआ जो चिस्ती पंथ के निजामुद्दीन औलिया की भांति ही बहुत प्रसिद्ध हुआ। चिश्तियो के विपरीत इस पथ के सत बहुत आराम की जिदगी व्यतीत करते थे अपने परिवार की सुविधा का विशेष ख्याल रखते थे। सुहरावर्दी यह विश्वास करते थे यदि हृदय निर्मल है तो धन संचय मे कोई बुराई नहीं है। वे सरकारी विभाग से सक्रिय रूप से संबद्ध थे ओर शेख– उल– इसलाम और सद्र–ए– विलायत का पद उन्होंने स्वीकार

किया था। वे राजा को सर्वशक्तिमान मानते थे। उनके अनुसार राजा का अपमान ईश्वर का अपमान है ये लोग विलासिता पूर्ण जीवन को ही जीने का सही अग मानते थे।

कादरी सिलसिला

इस्लाम मे सबसे पहला रहस्यवादी पथ शेख कादिर गिलानी (1077–1166 ई0) के द्वारा स्थापित किया गया। भारत में इस सिलसिला की शुरुआत सैयद मुहम्मद गिलानी (1577 ई0) से हुई। उनके पास काफी सपत्ति थी, वे मुल्तान के निकट आकर बस गए थे। इनके कई हिन्दू अनुयायी थे। जिनमें से कई ने धर्म परिवर्तन कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इस पथ के सबसे प्रसिद्ध सत शेख मीर मुहम्मद या मियां मीर हुए। भारत मे इस पथ के समर्थक बहुत ज्यादा नहीं बन पाए। सुलतानो के समय के शत्तारी सिलसिला और फिरदौसी की शुरुआत भी भारत में की गई किन्तु इनका प्रभाव अधिक समय तक नही रहा।

शत्तारी सिलसिला (1485 ई0)

शाह अब्दुल्ला ने शत्तारी सिलसिला चलाया। ये सभी धर्मो का आदर करते थे। शत्तारी संतो ने हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक विचारों विचारों तथा रीतियों में साम्य दिखला कर उन्हे निकट लाने का यथेष्ट प्रयास किया गया। हिन्दू धर्म ग्रथों की जानकारी के लिए शेख कादरी जैसे कुछ संतों ने सस्कृत की शिक्षा ली थी। शताब्दियों की मान्यता थी कि पीर या शेख अन्य सतों, पैगम्बरों व ईश्वर तक से सीधा संपर्क रखने मे समर्थ है। इस पंच

के सूफी भी लौकिक– सुविधाओ से पूर्ण आरामदायक जीवन जीने के आदी थे।

फिरदौसी सिलसिला

इसके सस्थापक बदरुद्दीन व भारत मे इसके नेता शेख हुसैन बल्खी थे। परन्तु यह पंथ भारत में ज्यादा दिन भी चल सका। इस्लाम में सूफी मत का विकास किसी धर्म में होने वाले रहस्यवादी आदोलन की सफलता तथा लोकप्रियता का महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प इतिहास है। सूफी सहायक को ब्रह्मज्ञानी व आध्यात्मवादी माना जाता रहा है। सफा का अर्थ है पवित्रता या विशुद्धता अर्थात् जो लोग आचार–विचार में शुद्ध व पवित्र थे वे सूफी कहलाए। एक अन्य मत के अनुसार जो खुदा की साधना में लीन रहे वो सूफी कहलाता है। सूफीवाद का उद्भव इस्लाम को प्राप्त होने वाली राजनीतिक सफलता का प्रत्यक्ष परिणाम था। सूफीवाद मूलत. दार्शनिक व्यवस्था पर ही टिका था। इस दार्शनिक व्यवस्था के कारण ही सूफीवाद ने इस्लाम की कट्टरता को तिलांजलि देकर रहस्यवाद की आन्तरिक गहराइयो से समझौता कर लिया था। वास्तव मे सूफी दार्शनिक अपने–अपने लक्ष्य के प्रति बेहद सजग थे। उन्हें यह अहसास था कि वे किसी नये धर्म की स्थापना नहीं कर रहे है, अपितु एक नवीन आदोलन की भूमिका तैयार कर रहे हैं। जिसके अंतर्गत उन्हें इस्लामी ढांचे को साथ मिलाकर नए प्रकार की आस्था को ही प्रतिष्ठित करना है। अपने लक्ष्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कुरान की नए ढंग से व्याख्या की तथा ऐसे अनेक आधारों को पाया कि उनके रहस्यवाद को पूरा बल मिला। वास्तव में रहस्यवाद के बीज कुरान

मे ही मौजूद थे। सूफी ईश्वर प्रेम मे निमग्न रहते थे परन्तु वे कर्मकाण्ड के विरोधी थे।

सूफियो द्वारा प्रतिपादित रहस्यवाद एवं प्रेम तत्वो की चर्चा से ज्ञात होता है। कि सूफी मत का इस्लाम से अनेक मुद्दो पर गहरा मतभेद है, परन्तु रोचक तथ्य ये है कि सभी– सूफी मुसलमान थे। सैय्यद मुहम्मद हाफिज के अनुसार सूफी सम्प्रदाय के अन्तर्गत चिश्ती भारत का सर्वप्रथम प्राचीन सिलसिला है। वे सूफी मत के मौलिक सिद्धातों मे विश्वास करते थे। इस पंथ के सिद्धांतो का प्रारम्भ होने से, शेख या पीर एवं शिष्य परपरा तथा खानकाहों की विशेष दिनचर्या निश्चित हो चुकी थी। अनेक सूफी सिद्धांतो को विभिन्न रहस्यवादी विचारधाराओ के द्वारा पुष्ट भी किया गया। यद्यपि सूफी आंदोलन का भारत में प्रवेश उसकी पूर्ण व्यवस्थापरक स्थिति के स्थापित हो जाने के बाद हुआ था तथापि इस मत ने कट्टर इस्लाम से ज्यादा भारतीय जनता का भी कल्याण किया।

सूफीमत का भक्ति भावना पर प्रभाव –

इतिहासकारों ने समय –समय पर इस प्रश्न को समझना चाहा कि भक्ति आंदोलन पर इस्लाम व सूफी विचारधारा का प्रभाव कहॉ तक पडा। ताराचंद्र, युसुफ हुसैन आदि कुछ इतिहासकारों ने इस बात की पुष्टि की है कि शकराचार्य के अद्वैतवाद और रामानंद की भक्ति–भावना पर इस्लाम संपर्क का गहरा प्रभाव पडा है। लेकिन इसके विरोध में दूसरे वर्ग के इतिहासकार मानते हैं इन भिन्न संस्कृतियों का संपर्क इतना निकट तम नहीं था, कि आध्यात्मिक तौर पर ये एक दूसरे के इतना करीब आते।

सक्षेप में सूफी सन्तो ने जनता को यही सदेश दिया कि 'मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवार व्यर्थ है, सभी मानव समान है। विभिन्न धर्मो का लक्ष्य साधनों द्वारा एक ही स्थान पर पहुँचना है और वह है प्रभु का साक्षात्कार। सपूर्ण मानव जाति एक है, धर्म व देश के नाम पर लडना कोरी मूर्खता है। हमारे हिदू धर्म के धार्मिक नेताओं व सूफी सतो के द्वारा समन्वय का भरपूर प्रयास किया गया काफी हद तक वे अपने इस लक्ष्य मे सफल भी हुए। यद्यपि हिन्दू –मुसलमान की धार्मिक भावना में कुछ साम्य होते हुए भी मूल रूप से दोनों के धार्मिक आधार बिल्कुल भिन्न थे जिसके कारण दोनों संप्रदायों मे जातिगत अन्तर सदैव परिलाक्षित होता है तमाम प्रयासों के बाद भी दोनों कभी–एक न हो सके। जिसका प्रभाव आज के समाज मे स्पष्ट रूप से दिखलाई पडता रहा।

८ ८० अध्याय

षष्ठ अध्याय

शैक्षिक और साहित्यिक विकास
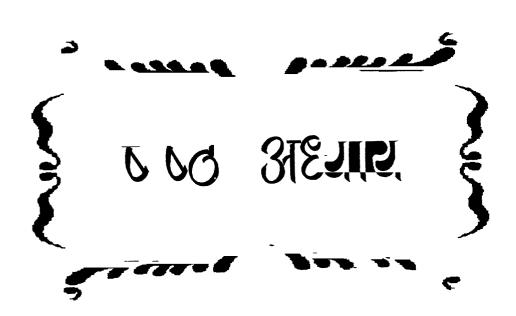
मध्यकालीन समाज मे हिन्दू व मुस्लिम शिक्षा पद्धति भिन्न–भिन्न प्रकार की थी और इनके अध्ययन–अध्यापन के तरीके भी अलग–2 थे। विजय नगर के राजाओ, कश्मीर के शासको और दक्षिण राजपूत नरेशो ने हिन्दू शिक्षण सस्थाओं को आश्रय प्रदान किया। इसके अलावा सल्तनत काल के शासको ने भी शिक्षा संस्थाओ को अपना प्रश्रय दिया। जिसके फलस्वरूप हिन्दू व मुस्लिम शिक्षण पद्धति का मध्य युग मे प्रचार –प्रसार सम्भव हुआ।

हिन्दू शिक्षा पद्धति

मध्य कालीन भारत मे हिन्दू शिक्षा पद्धति में प्राचीन पद्धति से अधिक अंतर नही था प्राथमिक विद्यालय या पाठशालाएं मन्दिरो से सलग्न होते थे, जहां प्रारंभिक शिक्षा दी जाती थी, उच्च शिक्षा के लिए 'टोल' या 'चतुष्पदी' थे जिन्हे 'चौपारी' के नाम से भी पुकारा जाता था। देश के विभिन्न भागो मे इस सस्था के नाम भिन्न –भिन्न थे। इन सस्थाओ में छात्र सस्कृत भाषा, साहित्य, पुराण, वेद, दर्शन शास्त्र, आयुर्विज्ञान, ज्योतिष शास्त्र, खगोल, विद्यादि का अध्ययन करते थे जोनराज ने कश्मीर स्थित शासक 'जैनुल

आब–दीन' के राज्य मे शिक्षा की उत्तम व्यवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके राज्य मे 'शिर्यभट्ट' व 'रूय्यभट्ट' नामक ज्योतिष व चिकित्सा के प्रकाण्ड विद्वान थे।[1] छात्र व अनुसधानकर्ता विद्यार्जन के लिए किसी भी कुशल शिक्षक के पास जाते थे, जो इस कार्य के लिए अनुदान व सहायता प्राप्त कर न केवल विद्यालय का भवन तैयार करते थे वरन छात्रो के निवास व भोजन की व्यवस्था भी करवाते थे। एक विद्यालय मे आठ–दस कमरे व एक वाचनालय होता था।

शिक्षा के उद्देश्य

हिन्दू शिक्षा मूलत· धर्म निरपेक्ष थी। इसका मुख्य उद्देश्य चरित्र –निर्माण व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन सस्कृति की रक्षा, धार्मिक व सामाजिक कर्तव्यो के पालन के लिए प्रशिक्षण देना था। प्रत्येक छात्र ब्रह्मचर्य धारण कर सादा जीवन व्यतीत करता था। सयम, अनुशासन और स्वावलबन पर विशेष बल दिया जाता था। छात्रो को अपने सामाजिक जीवन के कर्मो व कर्तव्य पालन हेतु प्रशिक्षित किया जाता था।

हिन्दू शिक्षा के मुख्य केन्द्र

हिन्दू उच्च शिक्षा के मुख्य केन्द्र जिसे हम विश्वविद्यालय की उपाधि भी दे सकते हैं, उन्ही स्थानो पर स्थित होते थे, जहां प्रसिद्ध विद्वानों का निवास होता था। इसके लिए हिन्दू प्राय तीर्थस्थानो का चुनाव करते थे क्योकि वहा से उन्हे विशेष अनुदान या सहायता प्राप्त होने की अपेक्षा रहती

---

1 द्रष्टव्य –जोनराज कृत राजतरंगिणी (श्लोक 814–815)

थी जिससे शिक्षा व अध्यापन का कार्य सुचारू रूप से चलता था। शिक्षण सस्थाओ के लिए बडे–बडे व्यापारियो और विद्वानो से तथा साथ ही वहां के शासक से यथेष्ट सहायता प्राप्त हो जाती थी।

मध्य काल मे उच्च शिक्षा के मुख्य केन्द्र बनारस, नदिया, मिथिला, प्रयाग, अयोध्या, श्रीनगर, तिरहुत, थट्टा, मुल्तान, कामरूप व सरहिंद थे।

बनारस

बनारस उच्च शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, देश के विभिन्न भागों से विद्वान यहा आते थे ओर यहां के शिक्षण संस्थाओं से सबद्ध होकर शिक्षा के क्षेत्र मे अपना सहयोग प्रदान करते थे। इनमें 'दत्तक मीमांसा' के लेखक नद पडित (1540) और 'परशुराम प्रकाश' के लेखक खडराय कर्नाटक के धर्माधिकारी परिवार से सबधित थे। "देवत निर्णय" व्रतमयक आदि के रचनाकार शंकर भट्ट और "चिन्तामणि मीमांसा "शीश विष्णु" जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों के रचयिता विद्वान् 'गगा भट्ट' बनारस शिक्षा संस्थान से जुडे थे।

नदिया

इनके अतिरिक्त बंगाल मे 'नदिया' जिसका एक प्रसिद्ध नाम 'नवद्वीप' भी है, हिन्दुओ का प्रमुख विद्या केन्द्र था। 'नालन्दा' व 'बौद्ध विश्वविद्यालयों' के विध्वस के बाद इसका महत्व बढ गया था। इसकी तीन शाखाएं नवद्वीप, शांतिपुर, गोपालपुर आदि थीं। नवद्वीप में शिक्षा व विद्वता का ऊंचा स्तर कायम किया गया। यहां स्मृति, गीता, भागवत ज्ञान व भक्ति की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी, इसके अतिरिक्त विद्वान 'रामरूद निधि' ने

खगोल विद्या की शिक्षा भी आरभ की।

मिथिला

उत्तर –बिहार मे स्थित मिथिला भी सुप्रसिद्ध विद्या केन्द्र रहा है। इसका महत्व पूरे मध्ययुग मे बना रहा। देश के सभी भागो से छात्र यहा तर्क शास्त्र की शिक्षा के लिए आते थे।

अन्य विद्या केन्द्र

अन्य हिन्दू विद्या केन्द्रों में मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, अयोध्या श्रीनगर व सुल्तान आदि थे। काश्मीर (श्रीनगर) मे कई ब्राह्मण सस्कृत–दर्शन का अध्ययन–अध्यापन करते थे। इनमें रामानन्द भी प्रमुख थे जो अपने देश भ्रमण के दौरान काश्मीर शासक ' जैनुल– आब–दीन ' के राज्य में गए जहां राजा ने उनका यथोचित सम्मान किया।[1] साकी ने अपनी पुस्तक 'मासीर–ए–आलमगीरी' में मुल्तान को हिन्दू विद्या का केन्द्र कहा है। इस नगर में समूचे भारत से छात्रगण आते थे। यहां खगोल विद्या, ज्योतिष शास्त्र, गणित, आयुर्विज्ञान जैसे विषयों पर अध्ययन–अध्यापन होता था। यह चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र था यहा से सम्पूर्ण देश मे चिकित्सक बनाकर भेजे जाते थे।

मध्यकालीन युग में "मदुरा" दक्षिण का प्रमुख विद्या केन्द्र था। दक्षिण के अन्य हिन्दू विद्या केन्द्रों में चित्रल[illegible]र मे कांचीपुरम, अधपालम, वेतूर, विरनिसी पुरम और उत्तरी आर्किट मे वपु उल्लेखनीय है। केरल मे राजाश्रय प्राप्त कलारी (सैनिक विद्यालय) स्थित था। आसाम में कामरूप भी विद्या का प्रमुख केन्द्र था। इन विश्वविद्यालयों में गूढ विषयों पर तर्क व

---

1 जोनराज कृत राजतरंगणी (श्लोक 828)

सामाजिक विषयो का अध्ययन अध्यापन होता था।

मुस्लिम शिक्षा पद्धति और उद्देश्य

दिल्ली में सल्तनत शासन की स्थापना के पूर्व ही मुसलमानो ने शिक्षा की इस्लामी पद्धति का विकास किया। वे सस्थाए जहां प्राथमिक शिक्षा प्रदान की जाती थी 'मकतब' के नाम से प्रसिद्ध है। ये मकतब प्राय: मस्जिद से संलग्न होते थे।

मुस्लिम शिक्षा धार्मिक प्रकार की थी।इसका मुख्य उद्देश्य इस्लामी सिद्धात और दर्शन की जानकारी कर इस्लाम का प्रचार– प्रसार करना व उसमें आस्था उत्पन्न करना था। शिक्षा के दौरान अनुशासन और चरित्र निर्माण पर भी बल दिया जाता था। इस्लामी शिक्षा में कुरान की शिक्षा अत्यत आवश्यक थी। प्रत्येक बच्चे को कुरान कठस्थ करना पडता था। अरबी फारसी की शिक्षा भी अनिवार्य थी।

मुस्लिम शिक्षा के मुख्य केन्द्र

मुस्लिमों में उच्च शिक्षा के लिए मदरसों की स्थापना की गई। ये प्राय: मस्जिद के करीब होते थे। सल्तनत काल में इस्लामी शिक्षा के मुख्य केन्द्र संभवत: देश के उत्तरी पश्चिमी क्षेत्रों मे स्थित थे, क्योंकि इस भाग पर ही मुसलमानों का पूर्ण आधिपत्य था। मुगलों के आगमन तथा साम्राज्य विस्तार के साथ ही शैक्षणिक क्रिया–कलाप भी बढे। दिल्ली, आगरा व जौनपुर में शिक्षा केन्द्र स्थापित हुए।

आगरा

शिक्षा के केन्द्र के रूप मे आगरा का स्थान महत्वपूर्ण रहा। वहा अकबर ने एक बडा कालेज खोला और शिराज से विद्वानो को अध्यापन के लिए बुलाया।

दिल्ली

दिल्ली भी शिक्षा सस्थानो की स्थापना मे आगे रही, वहां उच्च्य कोटि के शिक्षण की व्यवस्था थी इस क्षेत्र मे दिल्ली ने अपनी परपरा कायम रखी और वह इन सस्थानो का केन्द्र बिन्दु बन गई।

जौनपुर व गुजरात

गुजरात व जौनपुर भारत मे दो अन्य मुख्य मुस्लिम शिक्षा केन्द्र थे। जौनपुर को "भारत का सिराज" कहा जाता था। इब्राहिम शरकी (1401—40) के समय मे इसका महत्व बहुत बढ गया था। शिक्षा के अन्य विख्यात केन्द्रो में फतेहपुर सीकरी, बयाना, लखनऊ, ग्वालियर, थानेश्वर, सरहिद, थट्टा, नारनौल और सभल उल्लेखनीय है।

उस समय की शिक्षा मे न्यायशास्त्र धर्मशास्त्र पैगम्बरो का परिचय, व्याकरण, शब्द विज्ञान, साहित्य और आयुर्विज्ञान जैसे पारपरिक विषयो पर विशेष बल दिया जाता था। इनके अतिरिक्त गणित और खगोल विद्या भी अध्ययन के विषय थे।

साहित्यक विकास

यथार्थ के धरातल पर साहित्य की भूमिका इतिहास की भाति ही व्यापक होती है इतिहासकार के रूप में जब हम किसी युग के साहित्य का

मूल्याकन करते है तो हमारा मुख्य मापदंड यही होता है कि वह यथार्थ के साथ कितना जुडा है। इस मान्यता के पीछे ये कारण है कि साहित्य केवल सामाजिक मूल्यो को ही ग्रहण नही करता, अपितु उसका सबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियो व घटनाओ से भी होता है। यदि साहित्य की इतनी व्यापक भूमिका न होती तो हमें प्राचीन व मध्यकालीन इतिहास की जानकारी मे अत्यत कठिनाई का सामना करना पडता। समकालीन समाज, धर्म एव सस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से साहित्य इतिहास रचना में बहुमुखी भूमिका का निर्वाह करता है।

संस्कृत-साहित्य

मध्यकालीन साहित्य मं संस्कृत की महत्ता तथा इसकी ग्रहण क्षमता प्राय· समाप्त हो चुकी थी। सस्कृत साहित्य के महान कवियों तथा सर्जनात्मक लेखन का युग बीत गया था और उसका ह्रास आरम्भ हो चुका था। इसके विषय अरुचि कर और प्रवृत्ति रूढिवादी हो गई थी। सृजनात्मक चिंतन के स्थान पर अतिशयोक्ति पूर्व विवरण पर अधिक जोर दिया जाने लगा। विदेशी शासन और संरक्षण के अभाव मे यह अधिक उपेक्षित हो गया।

इन बाधाओ के बावजूद भी इस युग में संस्कृत की विभिन्न शाखाओ मे साहित्य का सृजन हुआ । संस्कृत साहित्य को हिन्दू शासकों, मुख्यतया विजयनगर वारगल और गुजरात के शासकों का संरक्षण प्राप्त हुआ। संस्कृत में काव्य, नाटक, दर्शन टीकाएं आदि सभी कुछ लिखा गया, रचनाओं की दृष्टि से कृतियो का अभाव न रहा। संस्कृत साहित्य की स्थिति कमोवेश पूर्ववतही रही। रचनाएं लिखी जाती रहीं। इस काल में बहुत रचनाएं

रची गई, किन्तु सभी दोहराई गयी। मौलिक रचनाओ का अभाव था। उदाहरण के तौर पर 'कल्हण' कृत राजतरगिणी के बाद 'जोनराज' व 'श्रीवर' ने दूसरी व तीसरी राजतरगिणी की रचना की। इसी क्रम मे 'प्राज्य भट्ट' प्रणीत 'राज्यावलिपताका' भी उल्लेखनीय है। स्मृति ग्रन्थो के प्रति–पाद्य को ही लेशमात्र परिवर्तनो के साथ " पराशर– माधव ", मदन पारिजात, व्यवहार काण्ड, व्यवहार विवेकोघोत, व्यवहार सार आदि कृतियो में प्रस्तुत किया गया।

ज्यादातर रचनाएं सम्प्रदाय से प्रेरित थी और साधारण जन के लिए न होकर शिक्षितों के लिए ही थी। सस्कृत साहित्य पर बगाल व उडीसा के चैतन्य आदोलन का प्रभाव पडा। राजाओं से प्रश्रय प्राप्त विद्वानो ने विविध शाखाओं में अपने साहित्य की रचना की। नाटककारों व कवियों की विषयवस्तु का उद्गम स्रोत राम–कृष्ण व पौराणिक नायकों की कथाएं बनी।

उस समय के संस्कृत साहित्य की रचनाए स्मृति महाकाव्य ऐतिहासिक महाकाव्य, दूतकाव्य, नाटक, गद्य, चम्पू, दार्शनिक और धार्मिक काव्य शास्त्र अंतरिक्ष विज्ञान, ज्योतिष, तकनीकी साहित्य, औषधि शास्त्र, सगीत, छन्द, शास्त्र इत्यादि विविध विधाओ मे लिखी गई।

महाकाव्य

कवि मल्ल ने जिन्हें 'मल्लाचार्य' या 'शाकल्यमल्ल' के नाम से भी जाना जाता है 'उदार राघव' नामक महाकाव्य की रचना की। इसमें रामायण की कथा वस्तु को कृत्रिमता पूर्ण शैली मे प्रस्तुत किया गया है। वारगल नरेश प्रतापरूद्रदेव के दरबारी कवि अगस्त्य ने [illegible] कृतियों का प्रणयन किया

'देवी–स्तुति', 'रसमजरी', 'भारतामृत' आदि ग्रन्थो का प्रणयन किया। बारह सर्गो मे 'नेमिनाथ' के जीवन वृत का वर्णन करने वाले 'नेमिनाथ महाकाव्य' की रचना 'कीर्तिराज' ने की। जबकि श्रेणिका के 'जीवनवृत्त' को जिनप्रभा ने 'दायाश्रय' काव्य मे दर्शाया। सोम कीर्ति ने 'सप्तव्यासन चरित' और 'यशोधरा चरित' महाकाव्य लिखे। कालीकट के राजा मानव विक्रम के दरबारी कवि 'वासुदेव' ने 'वासुदेव विजय' नामक महाकाव्य लिखा जो पाणिनि के व्याकरण के सूत्रो की व्याख्या करता है। चतुर्भुजा का 'हर्षचरित' काव्य भगवान कृष्ण की क्रिया कलापों पर आधारित है।

जोनराज के शिष्य श्रीवर ने फारसी के कविजामी के युसुफ वु जुलेखा की कथा वस्तु को आधार बनाकर पद्रह सर्गो का 'कथा–कौतुक' नामक महाकाव्य लिखा। फारसी साहित्य के प्रयोग का संभवतः यह प्रथम उदाहरण ही मूलतः हिब्रू भाषा मे लिखी गयी। यह कथा कश्मीर के 'मुहम्मद–शाह' की यशोगाथा है। फारसी प्रेमगाथा को शैवधर्म के साथ मिश्रित करके प्रस्तुत किया गया। अन्तिम सर्ग में भगवान शिव की प्रशंसा ही प्रशंसा है।

ऐतिहासिक काव्य

जोनराज के शिष्य श्रीवर ने द्वितीय राजतरंगिणी की रचना की। इस ग्रंथ में कल्हण व जोनराज की परम्परा में पुरातन राजवंशों से लेकर जैनुल–आव–दीन (1120–70) तक के राजवंशों के अभ्युदय का चित्रण है। जोनराज इस ऐतिहासिक महाकाव्य को, अपने संरक्षक जैनुल –आब–दीन के शासन के 35 वें वर्ष में ही दिवंगत हो जाने के

कारण पूर्ण नही कर पाए अत राजतरगिणी अथवा तृतीय राजतरगिणी को श्रीवर ने पूर्ण किया। राजतरगिणी मे 1459–86 तक के इतिहास का वर्णन है। राज्यावलिपताका प्राज्यभट्ट के द्वारा शुरू की गई व उनके शिष्य ने इसे पूर्ण किया इसमे काश्मीर के (1487) के इतिहास से लेकर अकबर के समय तक (1586) तक का वर्णन है। जैन साहित्यकार 'जयचन्द्र' के द्वारा 'हम्मीर काव्य' की रचना की गई जिसमें चौहान शासको के इतिहास का वर्णन है। गुजरात के इतिहास पर विचारणीय व महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गुरुगुणरत्नाकर' है जो सोमचरित्रगणी द्वारा विरचित है। कवि सर्वानंद द्वारा रचित जगदूचरितम भी इसी युग में लिखी गई।

पट्टुभट्ट या पोतराय ने अपने 'प्रसंग रत्नावलि' मे राजा विक्रमादित्य तृतीय से लेकर नरेश भूपति का वर्णन किया है। [1] विजय नगर की स्थापना से लेकर अपने समय तक समस्त राजाओं का विवरण कवि विद्यारण्य ने 'राज काल–निर्णय' नामक काव्य मे प्रस्तुत किया। साल्वनरसिह और उनके पूर्वजों की उपलब्धियों का वर्णन राजनाथ द्वितीय कृत 'साल्वाभ्युदय' में प्राप्त होता है।

लघु काव्य

बहुशास्त्रज्ञ व्यंकटनाथ या वेदान्त देशिक ने अनेक स्त्रोत ग्रन्थो की रचना की। जयदेव के गीत गोविन्द की शैली में भानुदत्त ने 'गौरीश'

रचना की। काश्मीर के रत्नधारा के पुत्र 'जगदूधारा' ने 38 पद्यो में भगवान शिव की स्तुति मे कुसुमाजलि नामक स्तोत्र ग्रथ लिखा। भावुकता पूर्ण भक्ति की अभिव्यक्ति निमाई जो बाद में चलकर गौराग व चैतन्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, की कविताओ मे मिलती है। 'स्तौमाला' 'रूपगोस्वामी' के साठ स्त्रोतों व गीतो का अनुपम संग्रह है इस संग्रह को प्रस्तुत करने का श्रेय 'जीव गोस्वामी' को जाता है। रूप गोस्वामी चैतन्य के साक्षात शिष्य थे। भक्तिपरक स्तोत्रो मे 'जिन प्रभासूर्य' कृत 'चतुर्विंशति जिन स्तुति' और अन्य भजन सग्रहीत हैं। मुनि सुन्दर सूर की 'जिन स्तोंत्र', 'रत्नकोश' भी प्रमुख भक्तिपरक ग्रथ हैं।

उपदेशात्मक काव्य

धनद्राज ने भतृहरि की शैली मे 1434 में श्रृगार नीति और वैराग्य पर तीन शतक लिखे। व्यकटनाथ ने सुभाषित– नीवी नामक उपदेशात्मक काव्य लिखा, इसमे विविध छन्दों मे निबद्ध एक सौ चौवालीस पद्य है। बारह–बारह पद्यों को बारह पद्धतियो मे विभाजित किया गया है। इसमें अहंकार, नीचता, दासता, आदर्श, शाति इत्यादि विभाग प्रमुख है। दयाद्धिवेदकृत नीति मंजरी मे 200 पद्य है इसमे सायण के ऋग्वेदभाष्य की कथाओं में प्रयुक्त कहावतों का वर्णन है। 'चरित सुन्दर गणिकृत' 'शिलादूत' अपने नाम के दूत काव्य जैसा लगने पर भी दूत काव्य नही है। बल्कि यह स्थूलभद्र की कथा पर आधारित एक उपदेश काव्य है। इसे समस्या पूर्ति शैली में लिखा गया है।

रति सम्बन्धी एव सन्देश काव्य

'मदन कवि' कृत 'कृष्ण लीला' मे कृष्ण गोपी वियोग 84 पद्यो मे वर्णित है। यमकालकार युक्त समस्यापूरण शैली में यह वर्णन उपलब्ध है।

वेकट नाथ अथवा वेदान्तदेशिक ने 'मेद्यदूत' की परिपाटी में 'हस सदेश काव्य' लिखा। वेकटनाथ के पुत्र वरद या नयनाचार्य ने 'कोकिला सन्देश' और 'शुक सन्देश' नाम के दूतकाव्यों की रचना की। राजा मानविक्रम के दरबारी कवि उद्दंड ने 'कोकिला सन्देश' नाम से दूसरे दूतकाव्य की रचना की। यह मानविक्रम के दूसरे दरबार कवि वासुदेव के भृग सदेश या 'भ्रमरसन्देश' के उत्तर रूप में है। 'वामन भट्ट वाण' की भी एक कृति 'हस सन्देश' नाम से लिखी गयी है। चैतन्य के मामा 'विष्णुदास' ने मनोदूत काव्य की रचना की। इसमें मन को कृष्ण के प्रति प्रार्थना दूत के रूप मे प्रस्तुत करते हुए वृन्दावन का वर्णन है। रूपगोस्वामी ने 'हस दूत' और 'उद्घवदूत काम' लिखे। मेरुतुगाचार्य के 'मेद्यदूत' के चार सर्गों मे नेमिदेव का जीवनवृत्त वर्णित है।

काव्य संग्रह

इस युग मे कुछ महत्वपूर्ण सग्रह ग्रन्थ रचे गये। दामोदर के पुत्र शांगधर ने 1363 ई0 में 4689 पद्यों ओर 163 अनुभागों मे शांगधर पद्धति नामक ग्रन्थ लिखा। सूर्यकालिगराज कृत शुक्ति रत्नाकर में दाक्षिणात्य रचनाकारों की कृतियो का सचय है।

परिचयात्मिका पद्धतियों के अनन्तर इसके उद्धहरण चार पद्धतियों

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मे निबद्ध है। सायण की सुभाषित सुधानिधि के अन्तर्गत 84 पद्धतियो मे उनके कुटुम्ब का विवरण है वेदान्त देशिक का सुभाषितनीवी भी इस सन्दर्भ मे उल्लेख्य है। 380 कवियों के विवरण से युक्त सुभाषितावली श्रीवर की कृति है। रूपगोस्वामी की पद्यों मे 25 कवियों का परिचय प्रस्तुत है। सभी पद्य कृष्ण और कृष्णलीला के भक्ति पर आधारित हैं।

कवयित्रियाँ

इस युग की कवयित्रियो मे वीरकम्पनगर कम्पराय की रानी गंगादेवी का स्थान महत्वपूर्ण है। इन्होंने मदुरा के मुस्लिम मुखिया तथा काञ्ची नरेश चम्पा पर अपने पति की विजय अभियान का वर्णन की अपनी कृतियो 'मदुरा विजयम्' और 'वीरकम्पराय चरितम्' में किया है। राजनाथ प्रथम की पत्नी अभिराम कामाक्षी ने 'अभिनवरामाभ्युदय' नामक महाकाव्य लिखा। इसमें राम कथा 24 सर्गों में वर्णित है। वरदाम्बिका और विजय नगर के अच्युत राय की प्रेमगाथा और विवाह को वर्णन को तिरुमलाम्बा ने 'वरदाम्बिका परिणय चम्पू' में प्रयुक्त किया है।

नाटक

कथावस्तु पर आधारित नाटक 1. पौराणिक संगमवंश के हरिहर द्वितीय के पुत्र बिरुपाक्ष ने पांच अकों मे नारायण– विलास के "उन्मत्तराघव" सहाय नामक एकांकी नाटक लिखे। उन्मत्तराघव नाम से भास्कर ने भी दूसरा एकांकी ग्रंन्थ लिखा जो प्रेक्षानक कहलाता है। वामन भट्टवाण कृत पार्वती

उत्तर स्वरूप है। इसमे विशिष्टा द्वैत दर्शन का प्रतिपादन है। वरदाचार्य या अम्लाचार्य ने 'वेदान्त विलास' अथवा यतिराज विजय की रचना की। इसके 6 अको मे रामानुज के विजय अभियान का वर्णन है। हरिहरकृत 'भर्तृहरि निर्वेद' अपने पत्नी की मृत्यु से दुखी भर्तृहरि की दशा का वर्णन है।

भक्ति परक नाटक

विदग्धमाधव (सात अको) ललित माधव (दस अक) और दानकेलि चद्रिका (माणिक) रूप गोस्वामी की कृतिया है। भक्तिपरक नाटकों में रामानन्दराय के 'जगन्नाथ वल्लभ' का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उपर्युक्त तीन नाटकों में भावनापूर्ण भक्ति के सैद्धान्तिक पक्ष का वर्णन है।

प्रहसन

मिथिला के करनाट वश के शासक हरसिंहदेव[1] (1320 ई0) के दरबारी और रामेश्वर के पुत्र ज्योतिरीश्वर कवि शेखर ने 'धूर्तसमागम' नामक प्रहसन लिखा। "सोमवल्ली योगानन्द" नामक प्रहसन अरुण गिरि प्रथम ने परिहासात्मक शैली मे लिखा। जगदीश्वर के 'हास्यार्णव' और गोपीनाथ चक्रवर्ती के कौतुक सर्वस्व भी उल्लेखनीय हे। इसमे कलिवत्सल नामक एक राजा का वर्णन है जो सबको स्वतंत्र प्रेम की अनुमति देता है और ब्राह्मणों को राज्य से निकाल देता है।

वामन भट्ट बाण की भाण कृति 'श्रृगार भूषण', वरदाचार्य कृत 'वसन्त तिलक' अथवा हम्माल भाण और रामभट्ट के श्रृंगार तिलक अथवा

---

1. Gode, SILH- 1378

'अय्याभाण' आदि प्रमुख प्रहसनग्रथ है।

सामाजिक नाटक और दरबारी परिहास

कपि उद्दड कृत 'मल्लिकामृत' मध्य वर्गीय सामाजिक जीवन को दर्शाने वाला दस अंको का प्रकरण ग्रंथ है। कादम्बरी की कथा को आठ अको मे नाट्य रूपातरित कर कवि नरसिह के कादंबरी कल्याण नाटक लिखा। इसकी मुख्य विशेषता पचम अंक मे आई एक अन्तर नाटिका है जो कादम्बरी को चन्द्रापीड के सम्मुख उपस्थित करती है। सत्कोप कृत 'वासन्तिका–परिणय' आहोविल नरसिह का वन सुन्दरी वासन्तिका से विवाह वर्णन है। राजवर्धन के पुत्र और नटेश्वर के शिष्य नेपाल के माणिक ने 'भैरवानन्द' नामक धर्म– निर्पेक्ष नाटक लिखा।

फुटकलनाटक

पन्द्रहवीं शताब्दी के व्यासश्री रामदेव, जो जयपुर के कलचुरि राजाओ के आश्रित थे, ने 'सुभद्रा– परिणय', रामाभ्युदय, पांडवाभ्युदय आदि नाटकों की रचना की।

गद्य साहित्य

प्रसिद्ध कथाओ पर आधारित गद्य कथाएं बृहत्कथा के बाद वेताल–पंचविशति पुरातन गद्य कृति है। क्षेमेन्द्र सोमदेव के वृहत्कथा के कश्मीरी रूपान्तर में भी इसका उल्लेख है। साहित्यिक सौन्दर्य के आधार पर शिवदास का 1487 का रूपान्तर साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भारत का 'द्वात्रिंशिका' अज्ञात कवि की बत्तीस कहानियों वाली रचना है।

शिवदास के कथार्णव मे मूर्खो व धूर्तो की कहानिया है, मिथिला के शिवसिह के शासन मे विद्यापति ने पंचतत्र की शैली में नैतिक और राजनीतिक कथाए बच्चो के लिए लिखी। बलराम की पृथ्वी परिक्रमा का वर्णन विद्यापति की भूपरिक्रमा मे मिलता है।

उपदेशात्मक गद्य

'चम्पक श्रेष्ठि कथानक' में तीन कहानियां हैं जिनमे भाग्य से लडने का रावण का असफल प्रयास वर्णित है। 'जिन कीर्ति' कृत 'पाल–गोपाल' कथानक एक काल्पनिक कथा है, 'सम्यक्–कौमुदी इत्त्यादि उपदेशात्मक रचनाएं है। तपागच्छ के रत्नशेखर के शिष्य सोमचन्द्र ने 1448 ई0 में एक सौ छब्बीस जैन कथाओ वाले कथा 'महोद्धिधि' ग्रथ की रचना की।

गद्यात्मक प्रेम कथा

इस युग के गद्यात्मक प्रेमाख्यानों में मौलिकता का अभाव है। वे बाणभट्ट और सुबन्धु की प्रतिकृति मात्र है। वाणभट्ट के हर्षचरित की पूरी नकल कर के वेमभूपाल चरित की रचना हुयी। अगस्त्य के कृष्णचरित मे भगवतगीता के आधार पर कृष्ण के जीवन को प्रस्तुत किया गया है। मेरूतुगाचार्य ने महान पुरुष चरित में जैन सन्यासियों का विवरण प्रस्तुत किया है। चरित सुन्दर कृते महिपाल चरित एक काल्पनिक कथा है विद्या चक्रवर्ती के गद्य 'कर्णामृत' में (1234 ई0) होयरूल नरेश नरसिंह द्वितीय के पांडय, मगध व चोलो की सम्मिलित सेनाओं के साथ युद्ध का वर्णन है।

चम्पू

रचना की चम्पू पद्धति दक्षिण भारत मे बहुत प्रसिद्ध थी। दक्षिणावत्य के राजा श्रीविनास के प्रेमाख्यान का वर्णन करते हुए व्यंकटाध्वरीन्दु अथवा व्यकटेश ने श्री निवास विलास चम्पू नामक ग्रंथ लिखा। दो उच्छवासो मे लिखा गया ग्रथ बाणभट्ट की प्रतिकृति प्रतीत होता है। 1500 ई0 में अनन्त भट्ट ने महाभारत की कथा को बारह स्तवको में विभक्त कर भारत कर भारत चम्पू की रचना की। इनके भतीजे सोमनाथ ने व्यास राय के जीवन को आधार बना कर व्यास योगा चरित चम्पू की रचना की। शेषकृष्ण कृत 'पारिजात हरण चम्पू', 'चिदम्बराकृत', 'भागवत् चम्पू' और 'पंच कल्याण चम्पू' तिरुमलाम्बा, कृत 'वरदाम्बिका परिणय चम्पू', विरुपाक्ष कृत 'चोल चम्पू' जीव गोस्वामी का गोपाल चम्पू, परमानन्द दास सेन कवि कर्णपूर कृत आनन्दवृदावन चम्पू इत्यादि ग्रन्थ भी चम्पू साहित्य की श्री वृद्धि करते है।

प्रबन्ध

बल्लाल सेन कृत 'भोज प्रबन्ध' मे भोज के दरबार की अनधिकृत कहानियों वर्णित है। 'मेरुतुंग' कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' पांच प्रकाशो मे सन् 1306 ई0 में लिखा गया। इसकी कथा विक्रमादित्य व सालिवाहन से प्रारम्भ होकर के लक्ष्मणसेन, उमापति, भतृहरि इत्यादि तक के वृतान्त को समाहित करती है। राजशेखर का प्रबन्ध कोष ,चौबीस प्रबन्धों में विभक्त है। इसकी रचना 1348 में हुई।

धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य

1.पुराण व उपपुराण

कुछ लघुकाय पुराणो मे इस युग मे प्रक्षिप्त अश जोड दिए गए है, जिनमे वाराह, पद्म, ब्रह्म, स्कन्द, ब्रह्मवैवर्त और भविष्य पुराण प्रमुख है। श्रीधर स्वामी ने भागवत की प्रसिद्ध टीका ' भागवत –भावार्थ टीका लिखी। सौर, शाम्ब और देवी पुराणों में भी कुछ 'क्षेपक' जुडा। बगाल के विद्वानों ने ब्रह्म वैवर्त व देवी भागवत मे कुछ अंश अपनी तरफ से जोड दिया।

2 धर्म शास्त्र

इस युग में धर्म शास्त्र पर कोई स्मृति नहीं (जिसमें नये विचार समाहित हो) लिखी गई। स्मृति के सिद्धांतो को ही इसमे थोडे बहुत परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत किया गया है। उनका सविस्तार उल्लेख इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में पृष्ठ 83 पर किया गया है।

3. दर्शन

'सायण' के भाई माधव ने 'सर्व दर्शन सग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, चार शैव सम्प्रदाय, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, वैशेषिक, न्यायपूर्वमीमांसा, व्याकरणसम्प्रदाय, साख्य, योग और अन्त में वेदान्त विषयों का वर्णन किया गया है। मीमांसा के सिद्धातो को माधव ने 'जैमिनीय–न्याय–माला विस्तार' ग्रन्थ में प्रतिपादित किया। माधव के पहले पार्थसारथि मिश्रा ने 'भाट्ट मीमासा' के सिद्धांतों को अपनी अनेक कृतियों में निबद्ध किया है। जिनमे कुमारिल भट्ट के 'श्लोक कार्तिक' की टीका 'न्यायरत्नाकर',

'शास्त्रदीपिका' और 'तन्त्र–रत्न' प्रसिद्ध है। 1400 ई0 के सोमेश्वर ने कुमारिल के 'तन्त्र वार्तिक' पर 'न्यायसुधा या 'राणक' टीका लिखी।

माधव ने वेदान्त मे जीवन मुक्ति विवेक और पचदशी की रचना की। 15 वी शताब्दी मे अद्वैतानन्द ने 'ब्रहसूत्रशाडक्रभाष्य' पर 'ब्रह्मविद्याभरण' नामक टीका लिखी। इनके शिष्य सदानन्द योगीन्द्र ने वेदान्त दर्शन मे प्रवेशार्थ उपयोगी ग्रन्थ वेदान्तसार नामक कृति रची।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्रो पर अपना 'अणुभाष्य' लिखा जो शुद्धाद्वैतसिद्धांत का प्रतिपादन करता है। उनके अनुसार भक्ति साधन और साध्य दोनो है। यह भक्ति ईश्वर कृपा से ही प्राप्त है।

कपिल का 'साख्यप्रवचन' सूत्र 14 वी शताब्दी की कृति है। क्योकि 'सर्वदर्शन–सग्रह' सांख्य कारिकाओं को ही आधार बनाता है। इस प्रवचन–सूत्र की चर्चा नही करता। विज्ञान भिक्षु ने 'सांख्य प्रवचन भाष्य' में साख्य और वेदान्त के अन्तर को कम करने का प्रयास किया। उनके अनुसार सांख्य ही मौलिक वेदान्त है। जबकि अद्वैतवेदान्त इसका आधुनिक मिथ्याकरण है। विज्ञान भिक्षु के अन्यग्रन्थ हैं– सांख्यसार, योगवार्तिका, 'योगसारसंग्रह' और ब्रह्मसूत्रो पर 'विज्ञानामृतभाष्य'।

उड़ीसा नरेश गजपति प्रतापरुद्र के राजगुरु और मंत्री गोदावर मिश्र ने पतंजलि, व्यास, वाचस्पति, मिश्र और भोज के सिद्धांतों और अभ्यासों का सार संक्षेप भूत 'योगचिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा। [1]

वासुदेव सार्वभौमकृत गणेश की 'तत्त्वचिन्तामणि' पर लिखी गयी 'तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या' नवद्वीप सम्प्रदाय की प्रथम महीयसी कृति है। सार्वभौमिक

1. Gode, PO IX. 11-19

वासुदेव चैतन्य, रघुनाथ, रघुनन्दन और कृष्णानन्द के गुरू थे। लौगाक्षिभास्करकृत 'तर्ककौमुदी'और शकरमिश्रकृत 'उपस्कार' भी महत्वपूर्ण कृतिया है।

वेदान्त देशिक एक बहुज्ञ विद्वान और लेखक थे। उनकी कृतियो मे 'सेश्वरमीमासा', 'न्यायसिद्धान्त', 'तत्त्वमुक्ताकलाप', 'तत्त्वटीका' और तात्पर्यचन्द्रिका प्रमुख है।

तकनीकी और वैज्ञानिक साहित्य

1. व्याकरण

इस युग के अधिकांश ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी पर आघृत हैं। 1350 में विमल सरस्वती में 'रूपमाला' लिखा। 1400 ई0 में रामचन्द्र ने पाणिनीय व्याकरण को 'प्रक्रिया –कौमुदी' ने पुनर्व्यवस्थित किया जो भट्टोजिदीक्षित की प्रख्यात सिद्धान्त कौमुदी का आधार बनी 'माधवीय धातुवृत्ति' सायण के भाई माधव की श्रेष्ठ रचना है।

हेमचन्द्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत हेमहंसविजयगणि हेमचन्द्रव्याकरण मे प्रयुक्त 140 परिभाषाओ को संगृहीत किया और 1458 में अहमदाबाद मे उन पर 'न्यायार्थ –मंजूषा' नामक टीका लिखी। सन 1409 मे देवसुन्दर सूरि के शिष्य गुणरत्नसूरि ने क्रियारत्नसमुच्चय' मे सस्कृत धातुओं के रूप सम्बधी विशेषताओ के प्रयोग का वर्णन किया है।

1469–1500 के दौरान मालवा के शासक गयासुद्दीन खिलजी के मंत्री पुंजराज ने अलकार और ध्वनिप्रदीप पर शिशुप्रबोध टीका लिखी। इसके अतिरिक्त सारस्वत सम्प्रदाय में [illegible]स्वती के शिष्य अमृतभारतीय कृत 1497 सुबोधिका श्री रंगाशिष्य माधवकृत टीका और चन्द्रकीर्ति कृत

दीपिका' टीकादि प्रमुख है।

धर्म को व्याकरण मे प्रस्तुत करने का जो चलन बोपदेव की रचनाओं मे प्रारम्भ हुआ [1] 'हरिनामामृत' तक अपने चरम पर पहुँच गया। रूपगोस्वामी, चैतन्य और जीव गोस्वामी ने पृथक् हरिनामामृत ग्रन्थ लिखे। इसमे राधा और कृष्ण को न केवल उदाहरणो मे प्रत्युत् तकनीकी शब्दो के रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है।

अभयचन्द्राचार्यकृत 'प्रक्रिया –सग्रह', नरपतिमिश्र कृत, 'न्यास –प्रकाश', नन्दनमिश्र कृत, 'न्यासेद्दीपन', तर्काचार्य कृत 'प्रभा' और फक्किकावृत्ति, पुण्डरीकाक्ष विद्यासागरकृत, 'कारककौमुदी' आदि इस युग की प्रमुख व्याकरण रचनाए हैं।

कोशग्रन्थ

सुधाकलश (14 वीं शताब्दी) और मायण के पुत्र सायण ने क्रमश. 'एकाक्षर–नाममाला' और 'एकाक्षर –रत्नमाला' नामक एकाक्षरी कोशों की रचना की। एकाक्षररत्नमाला मे स्वर, व्यंजन और संयुक्त नाम से तीन खण्ड हैं। पद्मनाभदत्त कृत 'भूरिप्रयोग', सुभाशिलाग्नि (15वीं शती) विरचित 'पञ्चगर्वनाम संग्रह' तथा 'उणादिनाममाला', महिपालकृत 'शब्दार्थ –रत्नाकर', इरुपम दण्डाधिनाथ या भास्करकृत 'नानार्थमाला', मदनपालकृत 'मदन –विनोद' निघण्टु आदि महत्वपूर्ण कोश–ग्रन्थ इस युग की देन हैं।

काव्य-शास्त्र

विद्यानाथकृत 'प्रतापरुद्र –यशोभूषण' के तीन भाग हैं कारिकाएं,

1. HACOIP V, P–320

वृत्ति और प्रयोग या व्याख्या। इसके नवअध्याय –नायक, काव्य, नाटक, रस दोष गुण शब्दालकार, अर्थालकार और मिश्रालकार– है। विद्यानाथ सामान्य तौर पर मम्मट का अनुसरण करते है। किन्तु गुणो में भोज और अलंकारो मे रूय्यक को अधिक तरजीह देते है। इन्होंने मम्मट के 'काव्य –प्रकाश' मे अप्राप्य परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प अलकारों का वर्णन किया है। 'प्रतापरुद्र –यशोभूषण' पर माल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने 'रत्नापण' टीका लिखी मिथिलावासी गणेश्वर के पुत्र भानुदत्त ने रसतरंगिणी और रसमंजरी नाम से दो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे। रसतरंजिणी में रस के अवयवों का वर्णन आठ तरंगो में किया गया है। रसमंजरी मे नायक–नायिका, सात्विकगुणश्रृगार के दो भेद तथा विप्रलम्भ के दस भेदों की विस्तृत चर्चा है। 1572 में रसमंजरी पर गोपाल ने 'विकास' नामक टीका लिखी।

सिंहभूपाल के रसार्णवसुधाकर में तीन विलास है –

1. नायक –नायिका भेद, उद्दीपन–विभव, रीति, गुण, नाटयवृत्तियां इत्यादि
2. व्याभिचारीभाव अनुभाव, स्थायीभाव रसादि
3. नाटक उसके प्रकार और विशेषताएं।

वेमभूपाल या [illegible]यण ने 'साहित्य –चिन्तामणि' या 'साहित्यचूड़ामणि' नाम से काव्यशास्त्र लिखा। इसमें ध्वनि, शब्दार्थ, ध्वनिवभेद गुणीभूत व्यग्य और अलंकारादि सात अध्याय है।[1] महाकवि चन्द्रशेखर के पौत्र तथा नारायण के पुत्र विश्वनाथ का उड़ीसा के राज दरबार सान्धिविग्रहिक और महापात्र के पद पर असीन थे। काव्यशास्त्र पर 'साहित्यदपर्ण' इनकी काव्य शास्मात्मिका कृति है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं।

1.मद्रास कैटलाग – XXII, No, 12965 PP- 8708-10

मल्लिनाथकृत 'तरला' टीका, गगानन्दकृत काव्यडाकिनी और 'कर्णाभूषण', रूपगोस्वामीकृत उज्ज्वलनीलमणि' इत्यादि।

नाट्यशास्त्र

14 वीं शताब्दी के 'नटांशम्' मे रस, अभिनय और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन है। राणाकुम्भा या कुम्भकर्ण कृत सगीतराज में नाट्य शास्त्र, भाव रस, नायक नायिका और अनुभूतियो का वर्णन है। कुम[illegible]कृत 'वसन्तराज्य' अब पूरी तरह नष्ट हो चुका है। इसके उद्धरण यत्र–तत्र मिलते है। इसमे नाट्यशास्त्र और शकुन –शास्त्र निहित हैं। रूपगोस्वामी की 'नाट्य –चन्द्रिका' में आठ अध्याय हैं।

संगीत

इस युग मे संगीत पर उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में पर्याप्त कार्य किये गये। शार्ङदेव के 'सगीत रत्नाकर' पर सिह भूपालकृत 'सुधाकर' तथा शाण्डिल्यगोत्रीय नारायणी और लक्ष्मीधर के पुत्र कल्लिनाथकृत 'कलानिधि' ये दो टीकाएं इसी समय लिखी। दामोदरकृत 'संगीतदर्पण', कुम्भकर्णकृत 'सगीतराज, मदनपालकृत 'आनन्दसजीवन',सुधाकलशकृत 'संगीतोपनिषद, विद्यारण्यकृत 'संगीतसार, गोपेन्द्र[illegible] भूपालकृत 'तालदीपिका,' सोमरायकृत 'सर्वरागसुधारसम्' अथवा 'नाट्य चूणामडि', लक्ष्मण भास्करकृत 'मातगभरत,' गौरनार्यकृत 'लक्ष्मण दीपिका' और उसकी लक्ष्मी नारायण प्रणीत 'संगीत सूर्योदय' आदि प्रमुख संगीतग्रन्थ इस काल मे लिखे गये।

---

1 Gode I.H.Q.. XV- 512-22

छन्द-शास्त्र

वृत्तरत्नाकर के सदृश गगादास [1] (1300–1500) द्वारा विरचित 'छन्दोमजरी' भी प्रसिद्ध हुई। सौपद्म व्याकरण के रचयिता पद्मनाभ ने 'छन्दोरत्न' नामक ग्रन्थ लिखा। नारायणकृत 'वृत्तरत्नाकरटीका' भी एक उत्कृष्ट रचना है।

रति-विषयक साहित्य

धूर्तसमागम के रचयिता ज्योतिरीश्वर कविशेखर ने 'पंचसायक' की रचना की। पांच भागो मे विभक्त कामशास्त्र पर यह श्रेष्ठ रचनाओ मे शुमार की जाती है। सात अध्यायो मे विभक्त 'रतिरत्न –प्रदीपिका' में विजयनगर के प्रौढदेवराय (15 वी शताब्दी) ने कामानन्द पर विस्तृत चर्चा की है। 1457 ई0 में कवि अनन्तकृत 'कामसमूह' मे प्रेम के हर पक्ष पर विवेचन उपलब्ध है। गीतगोविन्दकार से भिन्न जयदेव कृत 'रतिमन्जरी' और कल्याणमल्लकृत 'अनन्तमंजरी आदि प्रमुख है काम शास्त्रीय ग्रन्थ है।

औषधीय-साहित्य

वैद्य केशव के पुत्र और हेमाद्रि (1300) के आश्रित वोपदेव ने 'शार्ङधरसहिता' की टीका करने के साथ ही चूर्णों और गोलियों पर 'शतश्लोकी ग्रन्थ' लिखा। अफीम और चांदी का औषध में प्रयोग, नाडी परीक्षाणादि का विवरण शार्ङधर संहिता में मिलता है। बाणभट्ट और नित्यनाथ अथवा अश्विनी कुमार ने रसायन शास्त्र पर 'रसरत्नसमुच्चय' ग्रन्थ लिखा। गोपालकृष्णकृत 'रसेन्द्रसारसग्रह' एवं रामचन्द्र गुहाकृत 'रसेन्द्रचिन्तामणि'

[illegible] पर चौदहवी शताब्दी मे लिखे गये श्रेष्ठ ग्रन्थ है। 1383 मे 1499 के मध्य वल्लभ के पुत्र मिमल्लनामक तैलंग ब्राह्मण ने योतरगिणी, रसप्रदीप पथ्याथ्यनिघण्टु, 'वृत्त[illegible]माला' और अलकारमजरी की रचना की 'लोलिम्ब राजकृत' ' वैद्यजीवन और भावामिश्रकृत 'भाव प्रकाश' भी प्रमुख वैद्यक ग्रन्थ है।

अंतरिक्ष विज्ञान और ज्योतिष शास्त्र –अतरिक्ष विज्ञान में भास्कराचार्य के बाद किसी ने बहुत रुचि नही दिखायीं। मदनपाल ने 'सूर्य सिद्धान्त विवेक' अथवा 'वासनार्णव' नाम से 'सूर्य सिद्धान्त' पर टीका किया। मार्कण्ड कृत तिथ्यादि–पत्र और गणेश कृत ग्रह लाघव विशेष महत्व नही रखते। ज्योतिष पर विद्यामाधवीय और ज्योतिर्विदाभरण उल्लेख है।

राजनीति

राजनीति और विज्ञान पर इस काल मे बहुत काम नही हुआ। चन्द्रशेखर कृत 'राजनीति –रत्नाकर' मे सोलह अध्याय है जो तरंग कहे गये हैं। इसमें राजा, अमात्य, प्राड्विवाक, सभ्य, किले, कोष, सेना राजदूत, गुप्तचर, मण्डल राज्य के सात तत्त्व और उत्तराधिकारी का वर्णन प्राप्त है।

अन्य भाषाएँ और साहित्य–

हिन्दी

प्रारम्भिक रचनाएँ–सल्तनत काल के अंत तक भी हिन्दी का विकास नहीं हो पाया था। वास्तव मे इस युग मे हिन्दी अपनी प्रारम्भिक

अवस्था मे थी और 'पृथ्वीराज –रासो' जैसी महत्त्वपूर्ण रचना लगभग 1206 ई. मे लिखी जा सकी थी। हिन्दी लेखन के मुख्य केन्द्र राजस्थान में थे और उस समय साहित्य के नाम पर यशोज्ञान और धार्मिक पुस्तकों की ही रचना अधिक हुई। इस श्रेणी मे नरपति नाल्ह का 'बीसल –देव –रासो' तथा 'खुमान –रासो' उल्लेखनीय है। अमीर खुसरो ने हिन्दी में भी पद रचना की थी। भक्ति आदोलन के घुमक्कड संतो, गोरखनाथ, कबीर, आदि ने ईश्वर की स्तुति में गीतो की रचना की थी। कबीर के पद अवधी, ब्रजभाषा पूर्वी (बिहारी) और फारसी आदि मिली–जुली भाषाओं मे रचित थे। काव्य रचना में धर्म दास, गुरुनानक, दादू और सुंदर दास कबीर के अनुगामी थे। गुरुनानक ने 'जपजीसाहब' की रचना की थी, जिनमे से अधिकाश आदि ग्रथ में संग्रहित है। मुगलों के आगाज के समय तक हिन्दी अपने पैरों पर खडी हो चुकी थी। मुगल बादशाहों विशेषकर अकबर की उदार नीतियों से हिन्दी विकास को यथेष्ट बल मिला। सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यान तथा तथा ऐतिहासिक महाकाव्य 'पद्मावत' हिन्दी भाषा व छंद में रचित है, किन्तु यह फारसी की ही मसनवी शैली पर आधारित है और इसका स्वरूप फारसी से ही मिलता–जुलता है।

काव्य

भक्ति समुदाय की प्रधान कवियत्री मीराबाई (1573–1603) ने अपने पदों की रचना हिन्दी मे की थी। उनके द्वारा लिखी चार पुस्तको का पता चलता है। काव्य और कला से संबंधित पुस्तक 'हित–तरगिणी' के प्रणेता कृपाराम (रचनाकाल 1540) थे। यह ब्रजभाषा की प्रारम्भिक रचनाओ में से है। कृष्ण दास (1543) अष्टक्षाप के प्रमुख कवि थे। उनकी पुस्तक 'युगल– [illegible] चरित्र' में राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों का विवरण है। नरहरि

बदीजन (रचनाकाल 1550) अकबर के राज्यकाल के प्रमुख कवि थे। बादशाह ने उन्हे महामात्र की उपाधि दी थी। 'रुकमिणी–मंगल' और 'कवित्त –श्रृंगार' उनकी अन्य रचनाएँ थी। नंददास उस युग के महान कवि थे। नन्ददास की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपचाध्यायी' है। राजा बीरबल (1528–83) अपने व्यंग्यात्मक पदो के लिए विख्यात है। वे ब्रह्मा के उपनाम से भी लिखते थे। अकबर ने उन्हें कविराय अर्थात हिन्दू राजकवि की उपाधि दी थी। आगरा के अधे कवि सूरदास (1478–1583) भारत हिन्दी भाषा के महत्तम गीतकार माने जाते हैं। कृष्ण की 'बाल –लीला' सूर की काव्य भूमि रही है। कृष्ण उनके आराध्य देव थे, जिन्हें वे प्रेम का प्रतीक मानते थे। सूरदास ने सहज भाषा व सुदर शैली मे हजारो पदों की रचना की थी। उन्होंने हिन्दी की बोली ब्रजभाषा में अपनी काव्य रचना की थी, जो अपने आपमें एक प्रतिमान बन गया। उनकी प्रधान रचना 'सूरसागर' लगभग पॉच हजार पदों का संकलन है। यह परिमाण मे संयुक्त रूप से इलियड और ओडिसी से अधिक है। किन्तु सम्पूर्ण रचना मे काव्य की श्रेष्ठता विद्यमान रहती है। उनकी अन्य रचनाओं में 'भ्रमरगीत' उल्लेखनीय है। केशवदास (1555–1617) उस युग के महान कवियों में से हैं 'कवि –प्रिया' व 'रसिक –प्रिया' उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ है, रसखान (रचनाकाल 1583) उस युग के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं, इनकी दो रचनाएँ 'प्रेम –वाटिका' और 'सुजान –रसखान' है। 'नाभा जी दास' कृत भक्तमाल भी एक उल्लेखनीय रचना है।

उत्तर भारत के सभी कवियो मे श्रेष्ठ 'तुलसीदास' थे जो सुप्रसिद्ध रामचरित मानस के रचयिता हैं। उन्होंने भगवान राम के चरित्र पर

आधारित इस महाकाव्य का लेखन अयोध्या मे 1574 से आरम्भ कर 1584 मे बनारस के पवित्र गंगा तट पर पूर्ण किया। इस काव्य की रचना हिन्दी की बोली अवधी मे की गई है किन्तु तुलसी दास ने अन्य बोलियो, विशेषकर ब्रजभाषा, के शब्दो का भी प्रचुर मात्रा मे उपयोग किया है। सरल भाषा मे लिखे गये इस काव्य मे कही–कही फारसी व अरबी के शब्द भी आते हैं। ऊँचे आदर्शों को सुन्दर शैली मे प्रस्तुत करने वाला इनका काव्य विशेषकर 'रामचरित –मानस' भारतीय साहित्य के लिए एक अनुपम देन है। कवि को हिन्दी काव्य की प्रत्येक विधा पर समान अधिकार था अतएव इन्हे पूर्ण कवि की उपाधि से अलंकृत करना सर्वथा उपयुक्त है।

तुलसीदास के रामचरित मानस महाकाव्य और इनकी कवित्त्व प्रतिभा की प्रशंसा, संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान मधूसूदन सरस्वती, जो अद्वैत वेदान्ती दार्शनिक थे, ने की है।[1]

अब्दुर्रहीम खानखाना (1535) हिन्दी के प्रमुख मु[illegible] कवि थे। उनकी मुख्य रचनाएँ "रहीम दोहावली" या 'सतसई वरवै नायिका भेद' और 'श्रृंगार सोरठा' हैं। उस युग की विख्यात रचनाओं में सुन्दरदास की 'सुंदर –विलास', बनारसी दास कृत (1506) 'बनारसी –विलास' , ध्रुवदास की 'भगत –नामावली', [illegible] रचित 'छद– विचार' और उस्मान की पुस्तक "चित्रावली' उल्लेखनीय है। 'सुंदर –श्रृंगार' के कवि सुंदर को तत्कालीन शासक ने मह[illegible] की उपाधि प्रदान की थी।

सेनापति को अपने प्रकृति प्रेम के कारण भारत का बड्र्सवर्थ

---

1. आनन्दकाननेह्यास्मिन्तुलसी जगमस्तरू।
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता।।
मधसूदन सरस्वती

कहा जाने लगा। इनकी प्रसिद्ध कृति ''कवित्त रत्नाकर'' है। उन लोगो मे जिन्होने भक्ति से ऊपर उठ कर कला की आराधना की तथा पुराने काव्य को नई दिशा दी, जौनपुर के कवि 'बिहारी –लाल –चौबे' का नाम प्रमुख है। 'सतसई' अर्थात् सात सौ दोहे इनकी अनुपम रचना है। लाल कवि के नाम से विख्यात गोरा लाल पुरोहित भी समकालीन कवि थे।

गद्य

कुछ अपवादो को छोडकर, मध्यकालीन भारत का संपूर्ण हिन्दी साहित्य काव्य है, कुछ ही विद्वानो ने गद्य का लेखन किया है। इस युग की प्रस्तुत की गयी गद्य रचनाओं मे विट्ठलनाथ (1550) की 'श्रंगारमन्दिर' और नन्ददास(1568) कृत 'विज्ञान–अर्थ–प्रकाशिका' उल्लेखनीय है। गगाभट्ट (1570) ने 'चद छद वर्णन की महिमा' नामक सोलह पृष्ठो की पुस्तक सरल हिन्दी में लिखी थी। जाटमल ने विख्यात पुस्तक गोरा और बादल की कहानी की रचना की थी। जिसमे रत्नसेन, पद्मावती, गोरा और बादल की कहानी है। यह गद्य–पद्य मिश्रित कृति है। मनोहर दास ने ज्ञान चूर्णवाचिका का लेखन पूरा किया। जगजीचरण ने ''रतन महेश दास वचनिका लिखी। अजीत सिंह ने 'गुणसार' नामक एक पुस्तक लिखी, जो आधी गद्य व आधी पद्य में है।

फारसी

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि 1000 के तुर्क फारसी सेना के भारत पर आक्रमण व विजय के पश्चात् सम्पूर्ण भारत अलाउद्दीन खिलजी के हाथ आ गया। गजनवी दरबार में निःसंदेह फारसी के साथ अरबी का भी प्रयोग होता था किन्तु कब्जा किए गये नये प्रदेशों मे

फारसी ने ही अपना पूर्ण आधिपत्य जमाया। इसके तेजी से विकास के लिए अनुकूल कारण से बचने के लिए ट्रांस ओसियाना, बुखारा, खुरासान तथा अन्य स्थानो से कई फारसी विद्वान भाग कर यहाँ आ गये थे लोग अपने साथ पुसतको का सग्रह तो लाए ही, इसके अलावा यहाँ कई कालेजों की स्थापना भी की, जिससे भाषा के विकास और प्रचार को बल मिला। कुतुबुद्दीन ऐबक अल्तमश और रूकुनुद्दीन के सरक्षण ने भी फारसी विकास को प्रोत्साहित किया।

काव्य

उस काल की कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पुस्तको में मसूद–सद–सलमान का 'दीवान' (1046–1121), हसन निजामी निसापुरी का 'साल–ए–नासिरी' उल्लेखनीय हैं। यहाँ युद्ध संबधी लिखित पुस्तक 'फखेमुदाबीर' (1172–1242) की 'अदब–उल–हर्ब' तथा अवफी बुखारी का (1220) फारसी काव्य संग्रह उल्लेखनीय है। अल्बरूनी कृत 'किताबस समदना' या दवाओं की किताब का फारसी अनुवाद 'बक' ने किया। भारत मे फारसी साहित्य का महान विद्वान–अमीर खुसरो (1253–1325)' अलाउद्दीन के युग का था। कहा जाता है कि उसने विभिन्न विषयो पर निन्यानबे पुस्तके लिखीं तथा करीब पाच लाख पदो की रचना की थी। उसके द्वारा बलबन के पुत्र राजकुमार मुहम्मद के मृत्यु पर लिखा गया शोक गीत बड़ा ही मार्मिक है खुसरों ने अपने पाच समसास अर्थात साहित्यिक रचनाएँ 1298 और 1301 के मध्य पूरी की थी। किरन–ए–सदायें में जिसे उसने 1289 मे पूरा किया था, बोधरा खा और कैकुवाद की ऐतिहासिक भेट का विवरण और दिल्ली शहर का मनोरंजक वर्णन दिया गया है। उसके समकालीन, कवि और मित्र हसन सिजवी देहलवी (1252–1337) भी

प्रसिद्ध लेखक व कवि था, जिसकी तारीफ महान फारसी कवि जमी ने भी की थी। फवाइद–उल–फुआद मे उनके आध्यत्मिक गुरू 'निजामुद्दीन औलिया' के साथ हुए बात चीत का सकलन है। जिया नकशाबी (1350) का तूतीनामा अर्थात् तोते की पुस्तक उस युग की दूसरी सर्वश्रेष्ठ कृति है। जो सस्कृत की एक पुस्तक पर आधारित है। तुगलक के समय मे मध्य एशिया से आई नई प्रवृत्तियो का समावेश होने लगा था, किन्तु फिर भी कथावस्तु के रूप मे इतिहास ही मुख्य विषय था, जो कई उदाहरणो से प्रमाणित हो जाता है। अबासीद–खलीफा के द्वारा मुहम्मद बिन तुगलक के अभिषेक पर बदर–इ–चाच ने 'कसीदा' की रचना की थी। जियाउद्दीन बरनी के ऐतिहासिक लेख, शम्सुद्दीन सिराज का तारीख–ए–फिरोज–शाही ऐसे ही उदाहरण हैं। फिरोजशाह के राज्यकाल मे लिखी गई सिरत–ए–फिरोजशाह भी ऐसी ही रचना है। इस पुस्तक मे चिकित्सा शास्त्र को अधिकृत पुस्तक–तिब–ए–फिरोजशाही का वर्णन मिलता है। मियां बोवा (सुल्तान सिकदर का प्रधानमंत्री) ने भी चिकित्सा विज्ञान पर एक विशाल ग्रंथ लिखा जिसे मदन–उस–शिया या तिब–ए–सिकंदरी भी कहते हैं मुबारक शाह के राज्यकाल मे याहिया बिन सरहिन्दी ने तारीख–ए–मुबारक शाही लिखी। दिल्ली के शेख जमाली कम्बू सिकदर लोदी के दरबारी कवि थे उनकी रचनाएँ सियर–उल–अरीफन और 'मसनवी', 'मीर और मेहर' है। अब्दुल एस.अजीज नामक विद्वान ने सगीत और नृत्य पर भी लिखा है।

सूफी रचनाएँ

फारसी साहित्य में सूफियो का योगदान भी बडा महत्वपूर्ण है।

इसमे वार्तालाप, पत्र तथा आत्मकथा शामिल थी। दलैत–अल–अरफिन मे अजमेर ने महान संत मोइनुद्दीन चिश्ती के कथनो का संग्रह है (1142–1235) फवाइदस सालिकिन के नाम समकालीन बख्तियार काकी के कथनों का संग्रह भी बाबा फरीद ने तैयार किया था (1175–1265)। अमीर खुसरो संत निजामुद्दीन और औलिया के परम शिष्य थे, उन्होंने इस महान संत के साथ हुए वार्तालाप का संकलन अपनी पुस्तक 'अफजालूस–शवाहिद' में किया है। उस काल के प्रथम और श्रेष्ठ गद्य लेखको मे 'सर्फदीन मनेरी' का नाम आता है ये दार्शनिक और विचारक थे तथा इन्हें समकालीन लेखन की पूरी जानकारी थी। इन्होने कई निबंध लिखे थे उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना मकतबात–ए–सादी' मानी जाती हैं जिसकी विषय वस्तु इस्लामी रहस्यवाद है। मौलाना मुजफ्फर शम्स वल्खी ने इस्लामी परम्पराओं पर एक आधिकारिक पुस्तक लिखी। इस संबंध में तातार खॉ की प्रेरणा पर कई उलेमाओं द्वारा रचित पुस्तक "तफसीर–ए–तातार खॉ " का नाम भी उल्लेखनीय है। अन्य महत्वपूण्र ग्रथो में 'फतबा–ए–फिरोजशाही' का नाम उल्लेखनीय है। जिसका संकलन बादशाह के राज्यकाल में हुआ था।

दकन की देन

फारसी साहित्य में दकन का भी महत्वपूर्ण योगदान है। इसामी की "फतह–उल–सलातीन" एक बडी साहित्यिक उपलब्धि है जिसमे लगभग 17 हजार पदों मे इसामी ने महमूद गजनवी से लेकर अपने समय तक (1350) के मुस्लिम विजय अभियानों का विवरण प्रस्तुत किया है। उसने इस पुस्तक को अपने संरक्षक सुल्तान अलाउद्दीन बहमन शाह को समर्पित किया था। जो

दक्षिण मे बहमनी साम्राज्य का सस्थापक था। मुहम्मद शाह द्वितीय (1463–1482) के श्रेष्ठ वजीर ख्वाजा जहान महमूदगवान के समय मे कई उत्तम ग्रथो का निर्माण हुआ। इस सबध मे सफुद्दीन अली याज्दी (1454) की रचना 'जफरनामा', जलालुद्दीन की शबाकिल–हूर और सम्सुद्दीन सख्वी की 'धुरनामा' उल्लेखनीय है।

गद्य

गद्य लेखन की जो शैली मुगल दरबारो मे तथा दकन के समकालीन दरबारो में विकसित हुई वह सल्तनत के फारसी गद्य के अनुरूप थी। नि:सदेह उस समय इतिहास संबंधी रचनाएँ अधिक लिखी गई किन्तु फिर भी साहित्य की कोई ऐसी विधा नही थी जो अछूती रही हो। आत्मकथा, कोश, ज्ञान कोश, धर्मनीतिशास्त्र और प्रेम पत्र आदि सभी प्रकार के नमूने प्राप्त होते हैं। किन्तु केवल भारत में ही नही वरन् समकालीन ईरान में भी गद्य लेखन के स्तर में गिरावट अधिक स्पष्ट परिलक्षित हुई। उस काल में भारत में रचित अधिकांश कृतियां शब्दाडम्बर तथा अतिश्योक्तियो से पूर्ण थीं। यह बात उस युग में तैयार की गई सरकारी इतिहास पुस्तकों के लिए अधिक सत्य प्रतीत होती हैं।

इस श्रेणी मे महत्वपूर्ण स्थान "अबुल–फजल द्वारा " रचित "अकबर नामा" का है। इसमे सम्पूर्ण शासन का विस्तृत इतिहास वर्णित है। इसके अतिरिक्त सल्तनत काल में तैयार की गई ऐसी पुस्तकों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इनमें से मिनहाज उस सिराज का ग्रंथ तबकात–ए–नासिरी (1256) में पूर्ण हुआ था। इसमें पैगम्बरों से आरम्भ करके

दिल्ली के सुल्तानो तक का विवरण है अपने सरक्षक नासिरूद्दीन के राज्यकाल के प्रति प्रशसात्मक रहते हुए भी यह पुस्तक उपयुक्त और महत्वपूर्ण शैक्षणिक सूचनाओ से पूर्ण है। इस श्रेणी मे अमीर खुसरो के तुगलकनामा व नूह सिफर जैसे गद्य और पद्य लेखन को सम्मिलित किया जा सकता है। उसका 'खजाय–नुल–फतह' अलाउद्दीन के राज्य के सोलह वर्षो का विवरण प्रस्तुत करता है। शम्सुद्दीन शिराज अफीफ (1242) कृत फिरोजशाही एक जीवनी समान क्रमबद्ध विवरण है।

पत्रो का संग्रह

महत्वपूर्ण और विद्वान व्यक्तियो के पत्र भी साहित्य की एक कोटि मे आते हैं। पत्रो मे फारसी गद्य के सुदर नमूने देखे जा सकते हैं इनमें घरेलूपन और अपनत्व की भावना का स्पर्श तो है ही, प्रवाह मुहावरेदार शैली और रोचक भाषा मौजूद है। इशा–ए–अबुल फजल, इशा–ए–फैजी, इशा–ए–ब्राह्मण, रक्कत–ए–आलमगीरी ऐसे ही महत्वपूर्ण संग्रह है।

अनुवाद

सल्तनत काल मे कई संस्कृत पुस्तके फारसी मे अनुवादित की गयी थीं। सभवतः सबसे पहला अनुवाद अल्तमश के समय आरभ किया गया। विद्वान पंडितों की सहायता से बत्तीस कथाओ का अनुवाद किया गया था, जिसका नाम "नामा–ए–खिराद अफजा" था। नक्शबी कृत 'तूतीनामा' अर्थात् तोते की कथा का उल्लेख किया जा चुका है। जो मूलतः एक संस्कृत की एक खगोल विद्या की पुस्तक का अनुवाद किया, जिसका नाम दलैल–ए–फिरोजशाही रखा गया। संस्कृत की प्रसिद्ध पुस्तक 'हितोपदेश' का अनुवाद

'मुफर्रीह–अल–कलाब' के नाम से किया था। चिकित्सा शास्त्र की सस्कृत पुस्तक "आयुर्महावैदक" का अनुवाद 'मियाभोवा' ने "मदनउश–शिफा" के नाम से किया था। योग की पुस्तक 'अमृत कुण्ड' का अनुवाद फारसी मे करने का श्रेय काजी रूक्नुद्दीन को प्राप्त होता है। अरबी व तुर्की ग्रंथो का भी अनुवाद किया गया था।

अरबी

आठवी सदी में सिंध पर अरब विजय तथा भारत के अनेक भागों पर लगभग सात सदियो तक मुस्लिम शासन के बावजूद बहुत कम अरबी साहित्य का सृजन भारत मे हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि मूलतः तुर्की क्षेत्र का होते हुए भी भारत में इस्लाम का आगमन उत्तर–पश्चिम की ओर से हुआ, जहॉ फारस की श्रेष्ठससकृति से यह पूर्णत. परिवर्तिति हो गया। अतः स्वाभाविक ही है कि अधिकांश पुस्तकें अरबी में न होकर फारसी मे लिखी गई। सिंध के अधिकांश अरबी लेखकों की रचनाएं लुप्त हो गई, जो आगे के पीढियों के लिए अनुपलब्ध है। इनमें अबु–अता–अफलाहस सिन्धी, रहीब, सुहैव जैसे कवियों की रचनाएँ तथा हाजिब अब्दुर्रहमान तथा अबु हाजिब रबी–बिन–सुबैया के भाष्य शामिल है। ये सभी रचनाएं आठवीं सदी की थी अबु रैहान, अ[illegible], जो गजनवी के महमूद के साथ भारत आया था। अपना प्रसिद्ध ग्रंथ किताब–अल–हिन्द' अरबी मे ही लिखा था। उसकी अन्य रचनाओं मे खगोल विद्या की पुस्तक कानून–ए–मसूदी और खनिज विज्ञान की पुस्तक उल्लेखनीय है। रजिउद्दीन हसन–अस–सिधानी (1252) जो अल्तमश के राज्यकाल में था, एक वैज्ञानिक शब्दकोश लुबा–उल–जखीरा और

इतिहास–पुस्तक 'मशरीकल अनवर' का लेखक था। जौनपुर के अल्लाहदीया ने कई अरबी पुस्तके लिखी थी, जिनमे हिदायत–अल–फिक भी हैं ये सभी पुस्तके जौनपुर के शरकी राजा इब्राहिम (1401–1440) के सरक्षण मे लिखी गई थी।

गुजरात में सूफी सिद्धान्तो तथा अन्य धार्मिक विषयो पर अरबी में कई पुस्तकें लिखी गई थी। इसके अलावा उस युग की अन्य रचनाये मुहम्मद–बिन–ताहिर लिखित 'हदीथ साहित्य कोश', 'मजमा–अलबिहार' और अली–अल–मुतक्को कृत नजुल–अम्माल थी गुजरात के इतिहास से सम्बन्धित अब्दुल्ला–अल–मकी की पुस्तक जफारूज वली भी इसी युग की पुस्तक है। कुरान पर लिखे गये भाष्य में अलीबीन महाइमी की 'तफसीर–अर–रहमान' और 'सवाती–अल–उल्हाम' उल्लेखनीय है।

दकन के बहमनी और कुतुबशाही सुल्तानों के संरक्षण में कई अरबी पुस्तकें लिखी गई थीं। मनहलूस–सफी–सरही–अल–वफी नाम से अरबी का एक श्रेष्ठ व्याकरण बहमनी राजा अहमद शाह प्रथम 1422–36 के संरक्षण में मुहम्मद अल मखजमी ने तैयार किया था। मुहाजिबुद्दीन जिलानी द्वारा शजरात–अद–दानिश नाम की पुस्तकें कुतुबशाही राजा अब्दुल्ला के राज्य काल मे लिखी गई थी। फरीदुद्दीन ने खगोल विद्या पर जे–इ–शाह–जहानी सग्रह तैयार किया था। अन्य पुस्तकों में सैयद अब्दुल्ला–अवाल कृत फैजल बारी, शेख निजामुद्दीन के भाष्य तथा संग्रह व शाह वलिउल्ला देहलवी की हुज्जत–अल्लाह–अल–बालिगा है। ये सभी धार्मिक सिद्धान्तों पर आधारित पुस्तकें हैं।

यह भी एक विचित्र तथ्य हैं कि इस युग में अरबी और फारसी से बहुत कम पुस्तको का अनुवाद सस्कृत मे हुआ। टोलमी की पुस्तक 'अल्मा–जेस्त' का अनुवाद 'पडित जगन्नाथ' द्वारा तैयार किया गया। जि–ए–मिर्जई हकीम फजुल शिराजी ने और युकिलड की ज्यामिति का अनुवाद नारायण सुख उपाध्याय ने किये थे। ये सब महत्त्वपूर्ण अनूदित पुस्तके थी।

असमिया

वास्तविक अर्थ में असमिया साहित्य का प्रारम्भ तेरहवीं सदी से ही हुआ। बारहवी सदी मे कामरूप साम्राज्य के विघटन के बाद एक नया राज्य कामता बना था यहॉ के प्रारम्भिक लेखक हेमा सरस्वती और हरिहर विप्र थे जिन्होने तेरहवी लेखा हेमा सरस्वती और हरिहर विप्र थे। जिन्होने तेरहवी सदी के अत में क्रमशः 'प्रहलाद चरित' और 'वहरूवाहन पर्व' की रचना की थी 'रूद्र कंदाली' की 'द्रोण पर्व' तथा 'कवि रत्न सरस्वती' की 'जयद्रथ वध' उस युग की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ थीं। असमियॉ मे रामायण का अनुवाद करने का श्रेय 'माधव कदाली' को है, जो चौदहवीं सदी के लेखक थे उनका काव्य सुन्दर तथा भावात्मक था । लगभग उसी समय रूद्र कंदाली और कविरत्न सरस्वती ने विशाल महाकाव्य महाभारत की कुछ घटनाओं का अनुवाद किया था। असमिया साहित में काव्य का उत्कर्ष उस समय हुआ जब शंकर देव और उनके शिष्यों ने इसी के माध्यम से पूरे राज्य मे उपदेश देना आरम्भ किया। शंकर देव ने स्वयं रामायण और भागवत पुराण के कुछ अशों का अनुवाद किया था। माधव देव ने राजसूय यज्ञ तथा वर गीता में भगवान कृष्ण की जीवनी के विभिन्न पक्षों का विवरण प्रस्तुत किया था। अहोम राजाओं के हिन्दू

धर्म मे उसी समय दीक्षित होने से मध्यकाल मे असमिया साहित्य के विकास को पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। उस समय के श्रेष्ठ विद्वान कविराज चक्रवर्ती थे। जिन्होंने ब्रह्मवैर्वत पुराण तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् का अनुवाद किया था। राजा राजेश्वर सिह ने कीचक वध नामक नाटक तैयार किया था। असमिया साहित्य का विवरण उसके अनुपम बुराजियो अर्थात इतिहास लेखो के बिना पूर्ण नहीं होता है, इसमें राजनीतिक घटनाओ, कूटनीतिक –पत्राचारों, न्यायिक और राजस्व अभिलेखो के साथ ही जन सामान्य के आचार–व्यवहार तथा आर्थिक स्थितियों का विस्तृत विवरण दिया है।

बंगला

बगला साहित्य की प्रथम रचना "चारिय पद " दसवीं सदी की है। इसमे लेखक ने पूर्ण ब्राह्मणवादी सिद्धान्तो का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए भक्ति व आध्यात्मिक चिंतन की श्रेष्ठता पर बल दिया है। बंगाल पर मुसलमानों की विजय ने इसे शिथिल बना दिया और इसके बाद तीन सदियों तक कोई महत्वपूर्ण रचना प्रकाश मे नहीं आयी।

चौदहवीं सदी के बाद बगला साहित्य को तीन प्रमुख कोटियो में विभक्त किया जा सकता है–चैतन्य के विचार और जीवनाभिमुख वैष्णव साहित्य। दूसरा, रामायण, महाभारत व भागवत पुराण जैसे संस्कृत साहित्य पर आधारित काव्य एवं तीसरा मंगल काव्य।

चंडीदास बंगाल मे पहले महान कवि हुए जिन्होंने वैष्णव सिद्धान्तों को साहित्य में स्थान दिलाया जैसा कि जयदेव कृत गीत गोविन्द मे प्रस्तुत

किया गया था। नरहरि, सरकार रामानन्द बसु और मुरारी गुप्ते महापुरुष चैतन्य के समकालीन थे और इन्होने धार्मिक विषयों को लेकर श्रेष्ठ काव्य रचना की। मध्यकाल मे और उसके बाद चैतन्य को लेकर बडी सख्या में चरित्र विवरण प्रस्तुत किये गये। इन सब मे 'कृष्णदास कविराज' कृत 'चैतन्य चरितामृत' विशेष महत्वपूर्ण है, यह वैष्णव सिद्धान्तो के विश्वकोश के समान है। सस्कृत के शास्त्रीय साहित्य का बडी सख्या में अनुवाद किया गया, साथ ही इन पर अधारित रचनाएँ भी प्रस्तुत की गई इनमें अधिकाश रामायण व महाभारत से सम्बन्धित थी। इन सब मे कृतिवास की "रामायण" तथा काशीराम कृत "महाभारत "को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।
मंगलकाव्य के ,द्वारा बगाल की विभिन्न जाति समुदायो द्वारा अपने देवी देवताओं की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार का काव्य बंगाल की अपनी विशेषता है। मणिक दत्त और मुकुंदराम पंद्रहवी और सोलहवीं सदी के दो मुख्य कवि थे भरतचन्द्र का "आनन्दमगल" भी इसी कोटि का काव्य है।

गुजराती

गद्य और पद्य दोनों रूपों मे गुजराती साहित्य का सुविकसित स्वरूप बारहवी सदी और उसके बाद से ही उपलब्ध होने लगता है। सालि भद्र कृत 'भारत–बहु होली रस' संभवत· गुजराती की प्रथम साहित्यिक रचना है। यह 1185 में पूर्ण किया गया था। इस युग के काव्य का उत्तम नमूना 'कन्हदा–दे–प्रबध' है, जिसकी रचना 1456 में हुई थी। इसमें मुस्लिम आक्रमणकारियो के विरुद्ध गुजरातियों की वीरता और अलाउद्दीन खिलजी के अत्याचारों के विरुद्ध राजपूत शौर्य का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। भीम की

'सदायवत्स कथा' 1410 विजय सेना की 'रेवत–गिरि रास' और विनय प्रभा कृत 'गौतम स्वामी रास' 1356 उसी युग की काव्य रचनाएँ है। इसके अलावा राजशेखर, जयशेखर और सोमसुन्दर की कविताएं भी उपलब्ध है। 'माणिक्य' की ' पृथ्वी चन्द चरित' पद्ययुक्त गद्य की पुस्तक है। भक्ति आदोलन जो पद्रहवी शताब्दी मे सम्पूर्ण भारत मे फैल चुका था। साहित्यिक–नव– बिहान लाने वाला हुआ। नरसिंह मेहता 1410–1480, बल्हन 1434–1514 और आखो 1591 इसी युग के साहित्यकार थे। मेहता ने बडी संख्या मे गीत व कविताएँ लिखी थी।

कन्नड़

मध्य युग के कन्नड साहित्य पर सामाजिक और धार्मिक सुधार के 'वीर शैव' आदोलन का बहुत बडा प्रभाव है। वसवेश्वर जैसे सुधारक तथा नयासेन साहित्यकार ने नये आंदोलन के संदेश के प्रचार–प्रसार के लिए नवीन और लोकप्रिय माध्यम अपनाने पर यथेष्ट बल दिया। इस प्रकार सशक्त और सरल कन्नड में लिखित वचन अर्थात गद्य–पद्य युक्त रहस्यवादी साहित्य का आरंम्भ हुआ। 'वासवा', 'अल्लमा प्रभु' और 'अक्का महादेवी' इस आंदोलन के प्रमुख कवि थे। बारहवी सदी के अत में दो महान वीर शैव कवियों–'हरिहर' व 'राघवंका' ने नई शैली और देशी छंद के नाम से ज्ञात नया छद देकर कन्नड साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की है। हरिहर कृत 'वसवेश की जीवनी' तथा 'राघव शंकर' की 'हरिश्चन्द्र–काव्य' नामक 'पुस्तक नई शैली के उत्तम उदाहरण है। बाद में, होयसल नरेशो के संरक्षकत्व में विद्वतापूर्ण

रचनाएँ विशेषकर चपू प्रकार का शास्त्रीय काव्य प्रस्तुत किया गया। इस युग की महत्वपूर्ण रचनाओ में 'नेमिचन्द्र कृत' 'लीलावती' और नेमिपुराण, रूद्र भट्ट का' जगन्नाथ विजय', जन्ना लिखित 'अनन्त पुराण', और अंदैया का 'कविबगर काव्य' उल्लेखनीय है।

काश्मीरी

काश्मीर की सबसे पहली रचना तेरहवी सदी की 'शतीकंठ' कृत 'मोहन्याय प्रकाश' है। यह पुस्तक 'तंत्र विद्या पर है। इसमें क्रमरथ अर्थात वास्तविकता की व्याख्या करने का प्रयत्न है। इसके बाद सौ वर्षों तक कोई भी रचना उपलब्ध नही होती है 'लालेश्वरी' नामक कवियित्री और 'शेख नुरूद्दीन 1377' पंद्रहवी सदी के माने जाते है। लालेश्वरी के काव्य का विषय आध्यात्मक है तथा उसमें 'एक सत्य' की खोज की आतुरता है। शेख नुरूद्दीन ने सैकडो दोहे लिखे जो उसके आध्यात्मवादी और सूफी दृष्टिकोण की पुष्टि करते है।

मलयालम

एक स्वतंत्र भाषा के रूप में मलयालम का आरम्भ नौवीं शताब्दी में देखा जा सकता है। 'भाषा कौटिल्यम' के नाम से अर्थशास्त्र पर लिखी गई मलयालम व्याख्या, सभवत· बारहवी शती मे प्रकाशित मलयालम की पहली महत्वपूर्ण कृति है यह प्राचीन गद्य का उत्तम नमूना है। तेरहवी–चौदहवीं शताब्दी में 'चंपू ' और 'संदेश काव्य' मलयालम साहित्य के दो समुदाय बन गये। 'चंपू ' काव्य में गद्ययुक्त पद्यमय विवरण होता है, इसका सुंदर उदाहरण ' उनिपादि चरिथम ' और उनयाचिथविथम' है। जिनमें दरबारियों का जीवन वृतांत है। ये उस समय की सामाजिक परिस्थितियों को भी प्रस्तुत करते हैं।

कालिदास कृत 'मेघदूत की शैली मे लिखा 'उन्नीनीली संदेशम्' नामक काव्य उस समय के काव्य सदेश समुदाय का उत्तम उदाहरण है। काव्य सदेश समुदाय का दूसरा उल्लेखनीय ग्रथ 'कोका संदेशम' है। इनके अलावा पद्रहवीं सदी मे मलायालम साहित्य मे साहित्यकारो का महत्वपूर्ण समुदाय 'नीरनाम' कवियों के रूप मे है। उन लोगो ने मलयालम साहित्य मे सुधार लाने का प्रयत्न किया साथ ही सस्कृत और तमिल के कठिन शब्दों और वाक्याशो के अधिक उपयोग को भी समाप्त किया। इस समुदाय के श्रेष्ठ साहित्यकार 'रमापणिक्कर' थे। जिन्होने विशुद्ध मलायलम में रामायण लिखी। उनकी अन्य रचनाओं मे भारतम्, भगवतम् और शिवरात्रि महात्म्यम उल्लेखनीय है। इस युग में ही रचित 'चेरू सेरी नंबुर्ती' का 'कृष्ण गाथा' अन्य उल्लेखनीय रचना है। माधव पणिक्कर को भगवद् गीता का अनुवाद करने का श्रेय था। 'रामानुजम एजुवचन' मलयायम साहित्य के जनक कहलते हैं। तुलसीदास के रामचरित मानस के समान ही उनका 'आध्यात्म रामायण' अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। उनकी अन्य रचनाओं में 'भगवतम् किलिपट्टू' और 'देवी महात्मयम्' विशेष उल्लेखनीय है।

मराठी

मराठी को साहित्यिक भाषा का रूप बारहवीं सदी में प्राप्त हुआ। 'मुकुंदराजा' मराठी के प्रथम कवि माने जाते है, जिनकी रचना 'विवेक सिन्धु' 1188 की है। सामान्यतः ज्ञानेश्वर को मराठी भाषा का जनक माना जाता है। उनकी 'ज्ञानेश्वरी' जिसमें भगवद्गीता के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत किया गया है, मराठी साहित्य की उत्कृष्ट रचना है। भक्ति आंदोलन से संबद्ध नामदेव,

ज्ञानदेव और एकनाथ जैसे कई महान सत और विद्वान थे। ज्ञानदेव की महत्वपूर्ण रचनाएँ 'भावार्थ दीपिका' और 'अनुभवामृत' उनके दार्शनिक विचारो पर आधारित है। 'एकनाथ' ने 1563 मे भगवद्गीता के ग्यारहवे अध्याय का विवेचन प्रस्तुत किया जिसका बहुत महत्व है और ज्ञानेश्वरी के बाद इसी का दूसरा स्थान है। इनकी अन्य रचनाएँ 'रुक्मिनी स्वयबर' और 'भावार्थ रामायण' है। एकनाथ के ही समकालीन ने भगवत्गीता का भाष्य 'गीतार्नव' तैयार किया था, जिसमें एक लाख पच्चीस हजार पद है। इन लेखकों का मुख्य उद्देश्य उन सामान्य लोगों के लिए हिन्दू धर्म और दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत करना था, जो संस्कृत धर्म ग्रंथो को समझाने में असमर्थ थे तदनुसार उन लोगो ने महाभारत व रामायण जैसे महाकाव्यो को अपने लेखन का मूल आधार बनाया था। मुक्तेश्वर ने महाभारत का सम्पूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किया था वामना पंडित ने भगवद्गीता पर भाष्य लिखा था।

कुछ ईसाई धर्म प्रचरको ने भी ईसा का संदेश प्रचार तथा धर्म परिवर्तन कराने के उद्देश्य से मराठी मे लेखन कार्य किया था। ऐसी रचनाओं में फादर स्टेंफेंस की क्रिश्चन पुराण, ''ांसीसा न्यायविद् फादर 'इतेमेद लाक्रूस' कृत पुराण जिसमे 'सेट पीटर की जीवनी' है। फादर अंटोनियो द सलदान्हा द्वारा लिखित संत अन्थोनी की जीवनी उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त उस समय मराठी के कुछ मुसलमान लेखक भी थे। शेख मुहम्मद को हिन्दू धर्म और सिद्धान्तों का काफी ज्ञान था। उनकी रचनाओ में 'योग अंगरामा', 'पवन विजय', 'निश्कलक बोध' और 'ज्ञान सागर'

मुख्य है। अबर हुसैन ने गीता पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम अबर–हुसैनी रखा था।

उडिया

उडिया की उत्पत्ति आठवी या नौवीं सदी मे हो चुकी थी किन्तु चौदहवी शताब्दी से पूर्व कोई उल्लेखनीय रचना नही हुई। चौदहवी शताब्दी मे एक साक्षर सरल दास के द्वारा महाभारत का उडिया–रूपान्तर प्रस्तुत किया गया। ओजमयी भाषा में लिखित इस रूपान्तर को राष्ट्रीय काव्य का दर्जा प्राप्त हुआ था। इसकी भाषा व्याकरण सम्मत नही है और ग्रथ मे ग्राम्य तत्वो की भरमार है, किन्तु इन्ही कारणो से यह काफी लोकप्रिय हुआ था। कुछ समय पश्चात् पंच सखा अर्थात् पाच मित्रों की रचनाएँ प्रकाश मे आई, जिन्होंने सस्कृत के स्थान पर उडिया को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने की शपथ ली थी। ये पाच मित्र बलराम दास, जगन्नाथ दास, अनन्तदास, यशोवंत दास और अच्युतानन्द दास थे। उनका मुख्य उद्‌देश्य अनुवाद और रूपांतर द्वारा संस्कृत धर्मग्रंथो के तत्वों को जनसाधारण तक पहुँचाना था। बलराम दास ने पहली उडिया रामायण लिखी तथा जगन्नाथ दास ने सरल उडिया में भागवद् का अनुवाद किया था। चैतन्य का काफी प्रभाव उडीसा में था, फलस्वरूप उस काल मे वैष्णव काल का विकास हुआ, जिसमे प्रेम और भक्ति पर अधिक बल दिया गया था। दूसरे प्रकार के काव्य मे दरबारी काव्य आते है। जो मुगल विजय के बाद छोटे सामंतों के दरबारी कवियो द्वारा प्रस्तुत किये जाते थे। उपेन्द्र भोज दास इस श्रेणी के श्रेष्ठ कवि थे। पुराणों तथा अन्य महाकाव्यों की कथाओ के आधार पर उन्होने काव्य की रचना की थी। उनकी मुख्य रचना 'लावण्यवती' हैं। जिसका नायक कर्नाटक का राजकुमार

कृष्ण दास, अभिमन्यु, सामत सिहार , कवि सूर्य, बलदेव रथ और गोपाल थे। दीनकृष्ण और अभिमन्यु ने राधा और कृष्ण के आध्यात्मिक प्रेम के सगीतमय गीत लिखने मे श्रेष्ठता प्राप्त की थी। जबकि बलदेव कृत चम्पू उडिया 'गीति नाटिका' का श्रेष्ठतम उदाहरण है। गोपालदास ने सरल भाषा मे सुदर और मधुर गीत लिखे थे, जो आज भी उडीसा के घरो में गाये जाते हैं वह मध्यकालीन भारत के महान कवियो विद्यापति, मीराबाई और चंडीदास के समकक्ष रखे जा सकते है।

उडिया का एक मात्र काव्य 'बृजनाथ बदजेना' कृत 'समर तरंग' है। उसमे कवि ने अपने राज्य ढेकानल के लोगो के मराठा आक्रमणकारियों के विरुद्ध शौर्यपूर्ण प्रतिरक्षात्मक युद्ध का विवरण प्रस्तुत किया हैं।

पंजाबी

आठवी से बारहवीं सदी तक पजाबी साहित्य की प्रथम अवस्था थी। इस काल में ही गुरू गोरखनाथ और उनके शिष्यगण 'चरपतनाथ', 'चौरंगी नाथ' और 'रतन नाथ' हुए थे। किन्तु सुविकसित पजाबी साहित्य का प्रमाण रहस्यवादी आध्यात्मिक कवि शेख फरीदुद्दीन गज–ए–शंकर (1173–1265) की रचनाओं में प्राप्त होता है। कई कवियो ने उनका अनुसरण किया, जिनके विषय मे इसके सिवा कोई जानकारी नहीं है कि वे उन वीर गाथाओ तथा प्रेम काव्यों के रचयिता रहे है, जो आज भी गाए जाते है। ऐसे सामरिक गीतो को वार कहा जाता है , इसमे 'राजकमल के वार', 'मंगज के वार', 'तुंदा असराज के वार' तथा 'सिकन्दर इब्राहिम' वार प्रसिद्ध हैं पंजाबी साहित्य का वास्तविक उत्कर्ष गुरूनानक 1469–1538 के समय मे हुआ। भक्ति भावना से भरी उनकी

आध्यात्मिक कविताएँ ओजपूर्ण थी। गुण और परिमाण मे श्रेष्ठ ऐसी अधिकाश कविताएँ आदि ग्रथ मे सग्रहित है इसके अलावा उन्होने गेय कविताएँ भी लिखी थी, जिन्हें सिक्ख साहित्य मे 'शबद' कहा जाता है। बाद मे पजाबी कविगण 'माधो लाल हुसैन', 'शाह हुसैन', 'सुल्तान बाहू', 'बुल्लेशाह' और अली हैदर थे। पजाबी मे अनेक समर गाथाये लिखी गई। पंजाबी में अनेक प्रेम कथायें भी लिखी गई थी उनकी [illegible] भारतीय के अलावा अरबी और फारसी स्त्रोतो से प्राप्त की गई थी इनमे से 'युसूफ–जुलेखा', 'शीरी–फरहाद', 'लैला–मजनू', 'महीवाल और सोनी', 'हीर–रांझा', 'ससी–पुन्नू' और 'मिर्जा साहिबान' उललेखनीय है।

तमिल

चोल राजाओ के पतन के साथ ही तमिल साहित्य का गौरवमय काल समाप्त हो गया और उसमें ह्रास आने लगा था। हालांकि बडी संख्या मे रचनाएँ प्रस्तुत की गई थी, किन्तु उनमे गुणात्मकता नहीं थी। तेरहवी सदी के पूर्वाद्ध में अरूनंदी ने 'सिव–नाना–सित्तियार' लिखा जिसमेंशैव सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया गया था। चौदहवीं सदी के अत तक दो विख्यात और अद्वैत सिद्धान्त का सग्रह 'सरूपानन्द तत्वारियार' का 'सिव प्रकासप' पेरिदंस्तु और कुरूदस्तु का सकलन पूरा किया गया था।

विजय नगर के कृष्णदेव राया के दरबारी कवि 'हरिदास' ने 'इरूसुमाया [illegible]' लिखा; जिसमें उसने अपने वैषण्ववाद और शैव सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। संस्कृत की सुविख्यात पुस्तक 'कृष्ण मित्र

कृत' 'प्रबोध चन्द्रोदय' का तमिल अनुवाद 'तिरूवेंकयननाथ' ने प्रस्तुत किया था। वैष्णव विद्वानो द्वारा इस युग मे अपने धर्म सिद्धान्तो पर कई टीकाए लिखी गयी थी। ऐसे विद्वान लेखकों मे 'पिल्लई–लोकाचार' (तेरहवी शताब्दी के आरभ में) और मनावला महामुनि (1360) उल्लेखनीय है। इस युग मे संगम रचनाओ पर भी कुछ श्रेष्ठ टीकाएं लिखी गई। जिनमे तल्कापियम् और 'सिलापदिकरम्' मुख्य है। इस युग के मुख्य लेखक 'इलमपुरनार',परासिवियर और 'वेनियारकर' थे। अकारकिमिगडू' एक 'शब्दकोश' था, जिसे सुप्रसिद्ध लेखक चिदंबरा रावण सिद्धार (1594) ने लिखा था। 'पुगलंडी के नलवेबरा (1500) ने नल–दमयन्ती की कथा लिखी थी। विल्ली पुत्तरार ने सपूर्ण महाभारत को तमिल मे चार हजार तीन सौ पचास पदों में लिख डाला था। पांड्य नरेश 'तेनकासी' के 'अतिवीर राम' भी श्रेष्ठ कवि थे। उसकी कृति 'नयदादम्' की सराहना कई विद्वानों ने की थी। सियाप्रकाश भी श्रेष्ठ लेखक था, जिसने कई पुस्तकें लिखकर ईसाई धर्म सिद्धातों का खंडन किया था, उन्होने एक कन्नड रचना का, जो शिवावतार माने जाने वाले 'अल्लमदेव'से संबंधित थी, अनुवाद किया था।

तेलगू

तेलगू की प्रथम रचना ग्यारहवीं शताब्दी की है। यह 'चंपू शैली' में लिखित महाभारत का तेलगू रूपांतर है। जिसका प्रारंभ 'ननाय्या' ने किया, 'तिकान्ना' ने जारी रखा और 'येरापगडा' ने चौदहवीं शताब्दी में समाप्त किया था। तुेलगू साहित्य का आदि रामायण ग्रंथ जिसे 'रंगनाथ–रामायण' कहा जाता है। 1250 ई0 में 'गोनाबुद्धरेडडी' द्वारा लिखा गया था। 'वीर शैव' के धार्मिक सुधार आदोंलन के प्रसार के फलस्वरूप तेलगू में सहज और सरल

शैली की साहित्यिक रचनाओं की बहुलता हुई। इस प्रसंग मे 'वासव–पुराण' और 'पुलकंकी सोमनाथ कृत' पडित राधे चरित्र' उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। प्रसिद्ध कवि 'नन्हाचोड'ने कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद किया था। भास्कर कृत 'लीलावती' का अनुवाद 'एलुगटी पेदन्ना' ने किया था। महान कवि श्रीनाथ (1365–1410) ने नैषधकाव्य का तेलगू अनुवाद पूर्ण किया, जबकि विख्यात कवि 'बमारा पोतना' (1420–75) ने 'भागवतम्' का अनुवाद किया था। 'पोतना' की अन्य रचनाओंमें 'भोगिनी दण्डकम्' ओर 'वीरभद्र [illegible]' महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस युग में 'शकुन्तला', प्रबोध चडोदय, 'पंचतत्र' और विष्णु पुराण जैसे कई संस्कृत ग्रन्थों अनुवाद हुआ।

सप्तम अध्याय
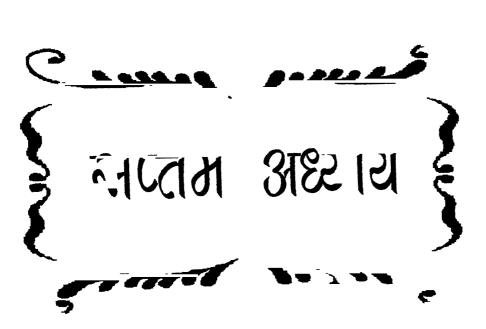
सप्तम-अध्याय

कला

चित्रकला

भारत में चित्रकला को साम्राज्यो तथा धार्मिक सस्थानों से आश्रय मिला और प्राचीन काल से ही इस दिशा में अपूर्व प्रगति हुई। दिल्ली के सुल्तानों ने भी इस कला को विशेष प्रोत्साहन व प्रश्रय दिया। उत्तर मध्य काल में संपूर्ण इस्लाम जगत् मे राजकीय कक्षों व भवनों मे भित्ति चित्रों का बहुत प्रचलन था। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उन्नीसवीं सदी के बाद के वर्षों में सर्वप्रथम 'मुहम्मद अब्दुल्ला चगताई' ने यह विचार प्रस्तुत किया कि दिल्ली सल्तनत के काल में चित्रकला का अस्तित्व था, उन्होंने अपने विचार का समर्थन भारतीय –पर्शियन साहित्यिक ग्रंथों में चित्रकला के संबंध में दिए गए विभिन्न उल्लेखों के आधार पर किया।[1] अब्दुल्ला के इस कथन को ...रमनगाट्ज ने अपने लेख[2] में भारत की प्रारंभिक मुस्लिम कला शैलियों का उल्लेख करते हुए, सल्तनत कालीन चित्रों के अस्तित्व को स्वीकार किया। उसने मालवा और बंगाल में भी चित्रकला के अस्तित्व को स्वीकारा।

दिल्ली सल्तनत के काल में भित्ति चित्रों का (दीवारों पर बनाए गए चित्र) का निर्माण हुआ था। समकालीन विद्वान 'ताजुद्दीन रजा' ने लिखा

---

1. चगताई एम0 अब्दुल्ला– पेंटिंग ड्यूरिग सल्तनत पीरियड, लाहौर, 1863
2. जार्नल आफ द इण्डियन सोसायटी आफ ओरियेण्टलआर्ट 1947 ई0।

है, "सुल्तान इल्तुतमिश के शासनकाल में भित्ति–चित्र का प्रयोग दीवारो को सजाने के लिए बडी मात्रा में किया जाता था।" चौदहवीं शताब्दी में इतिहासकार 'इसामी' ने अपनी पुस्तक 'फुतुह–उस–सालीन' में ताजुद्दीन रजा के विचार की पुष्टि की। लघु चित्र बनाने और पाण्डुलिपियों पर चित्र बनाने की प्रथा भी इस युग मे थी। अमीर खुसरो द्वारा रचित खम्सा की पाण्डुलिपि के कुछ पृष्ठ प्राप्त हुए हैं जिन पर चित्र बने हुए हैं मालवा, जौनपुर, बंगाल और गुजरात में भी ऐसे चित्र बनाए जाने की प्रथा थी।

लघु चित्रकला

बारहवीं शताब्दी में सल्तनत युग मे पश्चिमी भारत में गुजरात व मारवाड की महान प्रेरणा से लघुचित्र चित्रकला अस्तित्व में आई। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में यह शैली एक शक्तिशाली आदोलन के रूप में विकसित हुई तदुपरात धनाढ्य जैन व्यापारियों के उदार संरक्षण के माध्यम से यह कला केन्द्रीय, उत्तरी और साथ ही पूर्वी भारत मे भी फैल गई। सल्तनत काल में भारत में ईरानी और भारतीय दोनों प्रकार की चित्रकला की शैलियां विद्यमान थीं। लघुचित्र कला की शैली मिस्र की मामलुक और ईरान की 'इंजू' चित्रकला की शैली से मिलते–जुलते हैं। लघुचित्रों में रंगों के खुले प्रयोग किये जाते थे। इस शैली में 1427 ई0 का शाहनामा और 1438 ई0 की 'रूमी' मथनवी शैली की एक प्रति दिल्ली संग्रहालय में संग्रहीत है। लघु चित्र शैली में भारतीय मूल की शैली व मूर्तिशिल्प संबंधी विशेषताएं विद्यमान हैं।

मांडू, जौनपुर व बंगाल समूह के चित्रकारों का मुख्य विषय लघु चित्रकला ही थी। साथ ही इसी परम्परा में जैन चित्रकारों ने भी चित्रों का

निर्माण किया, जिनका प्रचार–प्रसार राजस्थान मे हुआ।

जैन शैली

पश्चिमी भारत, गुजरात, मालवा व राजस्थान में मुस्लिम आक्रमण के बावजूद पारपरिक भारतीय लघु – चित्रकला जीवित रही तथा चित्रकला के विकास में यथेष्ट योगदान दिया। यह कला सामान्यतः जैन, गुजरात या पश्चिमी कला शैली के नाम से ज्ञात होती है। इस कला का विकास चालुक्य वंश के जैन राजाओं के संरक्षण में हुआ, जिन्होंने 961 से तीन सदियों तक राजस्थानके कुछ भागो पर शासन किया था। इन्होंने ही बडी संख्या में जैन धर्मग्रंथों की सचित्र प्रतियां बनवाई थी। यह कला गुजरात पर 1299 में मुसलमानों की विजय से समाप्त नहीं हुई, क्योंकि–काठियावाड, आबू और दुर्गापुर के धनी जैन व्यापारियो तथा सरदारो ने कला को अपनी उदारता का आश्रय प्रदान किया था।यह तथ्य उन पाडुलिपियों से स्पष्ट हो जाता है जो बड़ी संख्या में पाटन, कांबे और जैसलमेर के जैन पुस्तकालयों में सुरक्षित रखी हुई है। प्रारंभिक जैन पांडुलिपिया ताड़– पत्रो पर तैयार की गई है और ये बारहवीं शताब्दी की है इन पांडुलिपियों के ताडपत्र पर होने के कारण चित्रकला और रंग का उपयोग तथा रेखांकन की परिधि सीमित हो जाती थी। इनकी संरचना सरल होती थी। गुलाबी, लाल या नीली पृष्ठभूमि पर एक आराध्यदेव तथा दाता की छवि पीले या सफेद या हरी धारियों से अंकित कर फलक को पूरा किया जाता था। किन्तु चौदहवी शताब्दी में कागज उपलब्ध हो जाने पर ये चित्र कई प्रकार के होने लगे थे। पृष्ठ के किनारों को हाथियों व हंसों और पुष्पों के चित्रों द्वारा सुंदरता से सजाया जाने लगा था। इसके

अलावा मूलपाठ को यथोचित श्याम या लाल रंग की पृष्ठभूमि पर सुन्दर ढग से लिखने के लिए सोने तथा चांदी का इस्तेमाल खूब होता था। जैसा कि 'इडियन आर्ट' मे जे0वी0एस0 मिल्किंसन ने उल्लेख किया है, "मानव मूर्तियों मे अगो की सुडौलता, नुकीली नाक तथा विशाल नयन, विस्तृत वक्ष तथा क्षीण कटि, पृष्ठ भूमि में प्राकृतिक दृश्य जिसमें विचित्र ढंग के वृक्ष, नदी, बादल आदि सजावट प्रदर्शित होते थे, संभवतः यथार्थ के स्थान पर प्रतीकात्मक थे।" ऐसी अधिकांश सचित्र रचनाएं जैन धर्म व दर्शन की थी। केवल 'बसंत बिहार' जैसी ही कुछ रचनाए जो प्रेमकाव्य था, धर्म निरपेक्ष थीं। ये चित्र सजीव व स्पष्ट थे। जैन चित्रकारी के विषय में मोती चंद ने कहा है– "इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि केवल परिणाम, प्राचुर्य और श्रेष्ठता में भारत की कोई चित्रकारी इसकी समता न करे।"

पुष्पों की सजावट तथा सोने और चांदी के अधिक उपयोग की शुरुआत मे जो जैन चित्रकारी की विशेषता बन गई। इन चित्रो की शैली के आधार पर कहा जा सकता है कि संभवतः इन पर मामूलक चित्रकारी का प्रभाव था जो चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के मिस्त्री मामूलक चित्रो और ईरान की 'इंडर' चित्रकला शैली से मिलते–जुलते है।

मांडू , जौनपुर व बंगाल समूह

चित्रकारी का दूसरा सम्प्रदाय मांडू , जौनपुर और बंगाल में था, जहां "कल्परंग" की पाण्डुलिपि कागज पर तैयार हुई उस पर 15 वीं सदी के उत्तरार्ध में चित्रकारी हुई थी। इन पाण्डुलिपियों में स्थानीय प्रभाव के अनुसार मुख मुद्रा की अभिव्यक्ति तथा रीतियों की भिन्नता है। कुछ तिथि

युक्त पाण्डुलिपियो माडू और (दिल्ली) आगरा प्रदेशों से और हाल ही मे एक पाण्डुलिपि बगाल से प्राप्त हुई है। माडू मे कम से कम चार अन्य अद्‌भुत पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई है, इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण और रोचक पाण्डुलिपि 'नियामतनामा' है जो पाक शास्त्र पर एक ग्रन्थ है। इस पाण्डुलिपि की पुष्पिका मे गयासुद्‌दीन खिलजी के पुत्र नासिरुद्‌दीन खिलजी का उल्लेख है। जिसके व्यक्ति चित्रों का अनेक लघु चित्रो के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जैन लघु चित्रकला के क्षेत्र में मांडू एक बहुत व्यापक कलात्मक कला शैली का केन्द्र बिंदु था।

'नियामत'- नामा' के चित्रांकनों से समकालीन इरानी शैली के साथ इसके साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्व होने और मालवा की इस चित्रकला की शैली विकसित एवं सुरुचि पूर्ण कलात्मक परम्परा का पता चलता है। इन चित्रो की रंग योजना बड़ी चटकीली व जीवन्त है। इन चित्रो में चित्रित बेल–बूटे बडे समृद्व और ताजगी लिए हुए है और मानव आकृतियां बड़ी ही स्वाभाविक एवं सौष्ठव पूर्ण है। इस पाण्डुलिपि के लघु चित्रों से मांडू दरबार की अहलाद् उन्मुक्कता साफ झलकती है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति हमें 'मिफता उल–हक फुजाला' नामक एक अन्य पाडुलिपि में भी देखने को मिलती है। यह मांडू में तैयार किया गया दुर्लभ शब्दों का एक शब्दकोश है। 1502 में हाजी महमूद नामक एक व्यक्ति द्वारा मांडू में चित्रित 'वोस्तान' पाण्डुलिपि में इससे मिली प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। इस पाण्डुलिपि के चित्र समकालीन ईरानी शैली से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। साइमन डिग्बी नें यांत्रिकी तरीकों का उल्लेख करने वाली एक अन्य पाण्डुलिपि 'अजैब उस–सनाती'

का उल्लेख किया है। इसे सन् 1508 में मांडू मे चित्रित किया गया। परन्तु सन् 1976 मे कलात्मक वस्तुओं की नीलामी के समय ब्रिटिश सग्रहालय लंदन द्वारा खरीद किये जाने तक इसे कोई देख नही पाया था। हाल ही में राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली द्वारा 'अनवार–ए–सुदेली' नामक पाण्डुलिपि को उपलब्ध किया गया है। इस पाण्डुलिपि को इसी समूह मे शामिल किया जा सकता है। इस ग्रन्थ के लघु चित्र निम्न कोटि के हैं और 'नियामतनामा' की शैली से भिन्न शैली के है। कुछ विद्वानों ने इन्हे दिल्ली–आगरा प्रदेश के अर्धशाही समूह का बताया है।

15 वीं शताब्दी में जौनपुर समृद्व साहित्यिक गतिविधियो का केन्द्र बन गया था। जौनपुर के शासकों ने कला, स्थापात्य और संगीत को समान प्रोत्साहन प्रदान किया। इस नगर को 'दाक–उल–अमन' या कला की शरणस्थली कहा जाने लगा। जहां कुतबन ने अवधी में सुल्तान हुसैन शाहशर्की (1458–96) के शासनकाल में 'मृगावती' नामक प्रणय काव्य की रचना की। हाल ही में 1501 में जौनपुर मे लिखी गयी फारसी की एक पाण्डुलिपि का पता चला है। इसके लघु चित्रोंमे प्रान्तीय ईरानी तरीके के कुछ प्रभावहीन रूपों को प्रदर्शित किया गया है। कुछ वर्षों पूर्व जौनपुर की एक अन्य पाण्डुलिपि के एक लघुचित्र को प्रकाशित किया गया। हाल ही के वर्षों में जिन पाण्डुलिपियों का पता चला है उसमें पश्चिमी जर्मनी के डबिंगेन स्टेट पुस्तकालय में संग्रहीत 'हज्मनामा' विभिन्न यूरोपीय एवं अमेरिका कला संग्रहो में संग्रहीत खम्सा–ए–अमीर खुसरो जैन लघु चित्र कला में चित्रित है।

राजस्थान व उड़ीसा

इस युग में राजस्थान चित्रकारी का दूसरा प्रधान केन्द्र था। तथा यह मेवाड कें देवकुल वाटिका में (1422–23) में कागज पर रचित 'सुप [illegible]म्' नामक सुन्दर पाण्डुलिपि से स्पष्ट हो जाता है। इसमे से सैंतीस चित्र दिये गये है। गुजरात शैली राजस्थानी कला को 1583 तक प्रभावित करती रही, जिसके बाद उसमें परिवर्तन आया, जो कि यथार्थवादी सरंचना तथा बदलते हुए पहनावो के चित्रण से स्पष्ट है। अन्ततोगत्वा इसी से नई शैली का जन्म हुआ, जिसे राजस्थानी शैली की कला का नाम दिया गया। यहां उडीसा शैली भी उल्लेखनीय है, जिसका आरम्भ 15 वीं शताब्दी के अन्त मे हुआ था। [1] उडीसा चित्र कला की तकनीक बगाल या पश्चिम भारत से एकदम भिन्न प्रकार की थी। ताडपत्र पर चित्र की रूपरेखा तीक्ष्ण कलम से बनायी जाती है और कटानों को स्याही या शुष्क कोयला चूर्ण से भरा जाता था।

दक्षिण भारत की चित्रकला

दक्षिण में प्राचीन भारतीय चित्रकला अब भी कई स्थानों पर उपलब्ध है। इनमें सित्तानवासल में (पुडकोहा के निकट) आठवीं सदी की चित्रकारी तंजौर में वर्चदीश्वर मदिर और त्रिपुरंतकम् तथा [illegible] मन्दिरों के मण्डप दर्शनीय हैं। दक्षिण भारत की मध्यकालीन चित्रकला समय के प्रभाव तथा मूर्तिभंजको दोनों से सुरक्षित रही है क्योंकि ये मन्दिरो और भवनों में एकान्त स्थानों पर बनी है जहां आक्रमणकारियों की नजर जा नहीं

---

1. Five thousand year of Arts and crops in India and Pakistan - Shanthiswaroop.

पाई। तंजौर मे प्राप्त चित्रकारी आश्चर्य जनक है सम्पूर्ण छत और दीवारें, चोलकालीन सुन्दर चित्रकारी से भरी है। (9 वी शताब्दी से 13 वीं सदी तक) देखने वालों पर ये चित्र अपनी सुन्दरता और सौष्ठव की अमिट छाप छोडते हैं। त्रिपुंरतकम् में वारगल के कातिया की चित्रकारी (11 वी 13 वी सदी) तथा पिल्लालमरी के चित्रों मे भी प्राचीन भारतीय शैली के ही दर्शन होते है, किन्तु पश्चिमी भारतीय शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इनमे [illegible] मुखमुद्रा, तीखी नाक और उन्नमुक्तनयन ध्यान देने योग्य हैं। चौदहवी शताब्दी से ही विजय नगर की चित्रकारी चोल और पाण्ड्य परम्परा के ही क्रम में है। इस युग के असंख्य चित्र है जो अनेक गुण्डी, तडपत्री, कांचीपुरम, कलशास्त्री, तिरूवन्नमलाई, चिंदांवरम्, कुम्बकोनम् तथा श्रीरंगम् जैसे स्थानों में उपलब्ध है। इनमें एक विशिष्ट चित्रकारी 'लिपाक्षी' (1538) में है। इसमें महाभारत, रामायण और पुराणों के दृश्य चित्रित किये गये हैं। इन चित्रों की श्रेष्ठता से चित्रकार की निपुणता तथा रंग भरने के अपूर्व कौशल का पता चलता है।

सल्तनतकालीन चित्रकारी

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रारम्भ के मुसलिम शासक अपने शासन की स्मृतिस्वरूप प्रभावोत्पादक भवन छोड गये है, किन्तु सल्तनत काल में दरबारी चित्रकारिता का शायद ही कोई कोई नमूना उपलब्ध है। किन्तु इतना निश्चित है कि मुसलिमों के साथ आयी एक नयी संस्कृति ने परम्परागत भारतीय शैली को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। तथा तथ्य इस युग की कुछ छिटपुट रचनाओं से स्पष्ट है। ऐसी पाण्डुलिपियां

'अमीर खुसरो देहलवी' की ऐतिहासिक कविताओं और फिरदौसी के महाकाव्य से लेकर मुसलिम विजेताओ के शौर्य की लोकगाथाओं और पाकशास्त्र की पुस्तको तक मे फैली हुयी है।इनके चित्रो उदाहरणार्थ खुसरों के पुस्तको में दृश्यो का चित्रण सरल ढंग से है किन्तु रग प्रभावकारी और आकर्षक है। इसमें विदेशी कलापूर्ण ढग भी अपनाये गये हैं किन्तु उन्हें भारतीय रूप मे संवार कर प्रस्तुत किया गया है।

हरमन गोज ने अपनी मशहूर पुस्तक 'इण्डिया फाइव थाउजेंड इयर्स आफ इण्डियन आर्ट' मे ऐसी कई सचित्र हस्तलिपियो का उल्लेख किया है जो उस काल में प्रान्तीय सुल्तानों के यहां तैयार की गयी थी। अवधी हिन्दी में लिखित एक हिन्दू प्रेमाख्यान 'लोर चन्दा' सम्भवतः जौनपुर के हुसैन शरकी (1458—79) के राज्यकाल में तैयार किया गया था। इसमें फारसी और राजपूत दोनों शैलियों का प्रभाव स्पष्ट हैं। इस युग की चित्रकला के प्रसिद्व नमूनों में सुल्तान फिरोजशाह का चित्र, (1533) विजयनगर और तुर्की शैलियों के मिश्रित रूप से तैयार की गयी बीकानेर की रंगमाला लघु चित्रावली, अहमदनगर की एक हस्तलिपि 'तारीक—ए—हुसैन—शाही' कुमतागी के फारसी हिन्दी अभिलेखो, पटना (1550) की तैमूरी फारसी हतीफी पाण्डुलिपियां उल्लेखनीय हैं।

मुगल चित्रकारी

कला में परम्परागत भारतीय व फारसी मुगलों का समागम का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। तभी मुगलों का आगमन यहॉं पर हुआ, वे अपने साथ ही कला की नयी परम्परा लाये जिसमें फारस में महान कलाकार बिंहजांद (15 वीं शताब्दी) में विकसित किया गया था। फारसी कला पर

मगोल कला का बहुत प्रभाव तथा, यह तथ्य तैमूर कालीन और पूर्व तुर्की युगीन चित्रकारी से स्पष्ट हो जाता है। बिहजांद ने मध्य एशिया और फारस दोनों की महान परम्पराओ का सन्तुलित समन्वय किया था, जो बाद में उनके शिष्यों द्वारा भारत मे लायी गयी थी। उसी के शिष्यों को प्रारम्भिक मुगल शासको के यहां दरबारी चित्रकार के रूप में रखा गया था। इस प्रकार की विकसित चित्रकला के लिये शातिस्वरूप ने अपनी पुस्तक में कहा है 'ये संजीव रंगो द्वारा उत्कीर्ण सुन्दर सजावट तथा खोजपूर्ण सुडौल लिखावट के लिए उल्लेखनीय है।' उस समय प्रकृति चित्रण पर विशेष ध्यान दिया जाता था इनमें प्रकृति के सम्रग सौन्दर्य को पुष्पो, वृक्षो, पर्वतो, बादल और पशु पक्षियों के माध्यमसे चित्रित किया जाता था। उस समय में यह शैली पांडुलिपि सज्जा के लिये अधिक उपयुक्त थी।

राजपूत चित्रकारी

राजपूत चित्रकारी को दो समूहो में विभाजित किया जा सकता है। राजस्थानी और पहाडी। जैसा कि इसके नाम से संकेत मिलता है। राजस्थानी समूह जिसे बहु या जयपुरीकलम भी कहते है। सम्पूर्ण राजस्थान राज्य और बुन्देलखण्ड इलाके में प्रचलित होने वाली शैली है। इस चित्रकारी के मुख्य केन्द्र जयपुर, बीकानेर और उदयपुर के भूतपूर्व राजपूत दरबार थे। दूसरा समूह जो पहाडी कलम कहलाता है, बहुत बडे क्षेत्र में विकसित हुआ था, इसमें सिवालिक पहाड़ी के चतुर्दिक स्थित स्थान पूंच, जम्मू, बशोली, नूरपुर, कांगडा, हरिपुर गुलेर तथा मध्यवर्ती हिमालय के स्थान रामनगर, भडरवा, चम्बा, कुल्लु और टेहरी गढवाल शामिल थे। इस समूह के मुख्य

केन्द्र बशोली जम्मू, नूरपुर, कांगडा और चम्बा के राजदरबार थे। चित्रकारी का सिक्ख स्कूल, इसी पहाडी स्कूल की शाखा है। रेने ग्राउजेट ने अपनी पुस्तक मे राजपूत व मुगल चित्रकारी मे अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "मुगल चित्रकारी सरकारी प्रकार की दरबारी कला है, जिसमें दरबार और ऐतिहासिक दृश्यों की बहुलता है, तकनीकी के मामले मे यह लघुचित्रों की चित्रकारी में विशिष्ट है, जिसके साथ इसकी उत्पत्ति हुई थी। यह पाण्डुलिपियो के चित्रण और फारसी सुलेखो की सुन्दर रेखाओं से विकसित हुई।" किन्तु इसके विपरीत राजपूत शैली देश की मिट्टी की उपज थी। इसकी तकनीकी लघु चित्रों से नहीं बल्कि मित्ति चित्रो से विकसित हुई। वास्तव में इस शैली का उद्‌मव अजंता और बाघा की प्राचीन तथा महान कला मे था जो पन्द्रहवीं सदी की गुजराती शैली की जैन पण्डुलिपियों से विकसित हो कर आयी थी। इसने मुगल कला की विशिष्टताओं को भी ग्रहण कर लिया। इसकी आकृतियां समकालीन मुगल परिधानों से युक्त होती थी। इस युग की ज्ञात प्रारम्भिक स्थापना 'सवग पदिकामन सत्र चुनी' सम्भवत. 1260 में अघाता जिले (उदयपुर) में चित्रित की गयी। राजस्थानी कलाकार दक्षिण की चित्रकला परम्परा के अनुसार भावनात्मक व सहज अभिव्यक्ति पर विशेष ध्यान देते थे। मेवाड़ के शासको के सरंक्षण मे राजपूत चित्रकला चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई थी।

इस शैली के अन्तर्गत चित्रकारी के अन्य केन्द्र मारवाड, जोधपुर, बूंदी, मालवा, किशनगढ व जयपुर में थे। मारवाड़ ने मुगल परम्परा ग्रहण कर लिया था। जोधपुर की चित्रकला राजस्थानी व मुगल

दोनो का मिश्रित रूप थी। माधोदास रचित 'रंगमाला' के चित्र इस (राजस्थानी) स्कूल के उदाहरण है।

पहाड़ी चित्रकारी

पहाडी चित्रकारी या पर्वतीय चित्रकला पंजाब के पहाड़ी प्रदेश में विकसित हुई, थी विशेष कर बसोली, जम्मू, नूरपुर, कांगडा, गुलेर और चम्बा इसके मुख्य केन्द्र था। इस शैली के अधिकांश चित्र भक्ति मार्ग के सन्तो के विनय गीत की प्ररेणा रही है। इनकी चित्रकारी का मुख्य विषय प्रेम था, जिसे प्रेमी कृष्ण और प्रेमिका राधा के द्वारा ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दी जाती थी।

कांगड़ा चित्रकारी

उत्तर भारत पर नादिर शाह के आक्रमण तथा दिल्ली विजय ने जर्जर मुगल साम्राज्य को नष्टप्राय कर दिया फलस्वरूप मुगल शैली में प्रशिक्षित सभी कलाकार बड़ी संख्या में पहाडो पर चले गये, जिससे वहां की शैली में बडा परिर्वतन आया। उनकी चित्रकारी यथार्थ व प्रकृति के प्रति आग्रह का तथा उनकी रंग रचना सरल व मनोहर थी। यह नयी चित्रकारी जिसने प्रायः सभी राज्यों को प्रभावित किया 'कांगडा' चित्रकला के नाम से प्रसिद्व हुई। इसके अतिरिक्त जम्मू व गढवाल चित्रकला के अन्य समुदाय हैं, जिनमें तत्कालीन युग में चित्रकारी की जाती थी। सजावट के सूक्ष्म रूपांकन तथा सौन्दर्य और प्रकृति प्रेम के लिए सभी राजपूत शैलियो में गढ़वाल चित्रकारी श्रेष्ठ है।

दक्षिणी चित्रकला

बहमनी सम्प्रदाय के विघटन के पश्चात्, दकन सुल्तानों ने भी मुगल परम्परा से अलग चित्रकला की अपनी शैली विकसित की। इस गतिशील और परिष्कृत शैली ने मुगल शैली को भी योगदान दिया। दकनी सम्प्रदाय को प्रारम्भिक चित्रों में फारसी का प्रभाव दिखता है। इसमे प्राकृतिक दृश्य तथा सजावटी तत्व फारसी का बोध देते है, जबकि पहनावे में उत्तर भारत या मालवा शैली की कला का प्रभाव है। विजय नगर साम्राज्य के बाद स्वदेशी प्रभाव अधिक स्पष्ट हो गया क्योकि कई नये कलाकार सुल्तानों के यहां व्यवसाय के लिए आ गये तथा उन्होने कला मे फारसी, तुर्की और स्वदेशी सांमजस्य को विकसित किया। शैलियों का यह समन्वय आठ सौ छिहत्तर चित्रों से युक्त सोलहवी सदी के 'नज्म–अल–उल्म' और 'ताली कोटा' के युद्ध विवरण (1565) की पुस्तक 'तारीफ–ए–हुसैनशाही' (1565) के चित्रों से स्पष्ट है। इसी पुस्तक में हुसैन 'निजामशाही' के भी कुछ चित्र दिये गये हैं। बीजापुर इस शैली का प्रथम केन्द्र था। इस शैली के महान संरक्षक बीजापुर मे अली आदिल शाह और उनके उत्तराधिकारी इब्राहिम द्वितीय थे। संगीत की भिन्न विद्या को प्रदर्शित करने वाली रगमाला चित्रकारी, जो बीजापुर, गोलकुंडा और अहमद नगर में तैयार की गयी थी, इस समूह की श्रेष्ठ रचना है।

स्थापत्य कला

सल्तनत युग में विभिन्न ललित–कलाओं में से मुख्तयाः स्थापत्य कला का विशेष विकास हुआ। अन्य क्षेत्रों की तरह स्थापत्य कला के मामले में

भवन निर्माण आदि मे स्वदेशी तथा इस्लामी सिद्वान्तो में मौलिक अन्तर थे। भारत मे पहले ही स्थापत्य कला की एक शैली विकसित हो चुकी थी, जिसकी सुगठित गरिमा दक्षिण के मन्दिरों में प्रत्यक्ष है। इस स्थापत्य की अन्य विशेषता शिल्प सौष्ठव तथा अंलकृत पद्धति और विषयो का वैभिन्न्य है।

इस्लामी स्थापत्य कला की मुख्य विशेषताओं को कठोरता तथा सादगी, सामग्रियों के उपयोग में मितव्ययिता और क्रमबद्व निर्माण साफ दिखते है,जो हिन्दू कला की गरिमा व श्रेष्ठता से स्पष्ट तथा भिन्न थे। हिन्दू स्थापत्य एकत्र रूप से प्रभावित करते है, जबकि मुसलमानी भवनों का विस्तार प्रभावोत्पादक है। पहले में सुदृढता की श्रेष्ठता है तो दूसरे में सौन्दर्य की। हिन्दुओं में भावना और कल्पना थी, जबकि मुसलमानों में पंसद और आत्मसंयम। हिन्दुओं में अपने भवनो के निर्माण में असंख्य प्रतिमाओ का उपयोग किया था जिससे वे भवन मूर्ति कला के नमूने प्रतीत होते है, जबकि मुसलमानों ने मूर्ति को निषेध कर फूल–पत्तियों या ज्यामित्ति के रूपांकनो से इमारतो की सजावट की थे हिन्दू भारत के मध्यकालीन गोथिक मूर्तिकला के शिल्पी रहे थे जबकि मुसलमान नवयुग में शामिल होने वाले बाहरी कलाकार थे।

हिन्दू कलाकारों ने उस पराम्परागत शैली को ही अपनाये रखा जिसकी उत्पत्ति प्राचीन काल की काष्ठ संरचनाओं में हुई थी, जबकि मुसलमान वास्तुकारों ने निर्माण की नयी शैली और सिद्वान्तो को लेकर प्रयोग किया। भारत के स्वदेशी स्थापत्य सामान्यतः दो सतम्भो के मघ्य विस्तार को शहतीरों द्वारा अनुप्रस्थ रूपमें काटा जाता था। मुसलमानों ने दो स्तम्भों या दीवारों के मध्य मेहराब बनाने की तकनीकि चलायी, जिसे उन्होंने देशवासियो

से सीखा था। हिन्दुओ के भवन पिरामिड अकार के सपाट या शक्वाकार छतों वाले होते थे। मुसलमानो ने गुम्बद और मेहराब की शुरूआत की । पत्थरो के उपयोग मे हिन्दु कारीगर बेजोड थे, जिसका परिचय उन्होने मन्दिरों के निर्माण में दिया था, भारतीय कारीगर चूने का उपयोग बहुत कम करते थे वे पत्थरों को लोहे अकुशो से जकड दिया करते थे। किन्तु मुसलमानो ने ईट व गिट्टी का प्रयोग भवन निर्माण मे किया। सल्तनत कालीन भवनो मे दोनों कलाकारों की कला का अद्भुत समन्वय परिलक्षित होती है। सुविधा की दृष्टि से उस समय की स्थापात्य कला को तीन वर्गों मे बांटा जा सकता है।

दिल्ली अथवा शाही स्थापात्य कला

जिसका विकास दिल्ली के सुल्तानो के सरक्षण मे हुआ और जिसमे वे सभी इमारते सम्मिलित की जाती हैं, जिनका निर्माण सुल्तानों ने विभिन्न स्थानों पर कराया, इसी प्रकार की श्रेणी में काश्मीर के शासक रिंचन द्वारा बसाये गये नगर 'रिंचन नगर' को प्रमाण माना जा सकता है जिसका निर्माण राजा ने मध्य युग की स्थापात्य कला के आधार पर कराया।[1] 'कुतुबद्दीन ऐबक ने दिल्ली में रायपिथौरा के किले के निकट 'कुव्वात–उल–इस्लाम' नाम की मजिस्द (1197) तथा अजमेर में 'ढाई दिन का झोपड़ा' के नाम से विख्यात अजमेर की मजिस्द (1200) का निर्माण कराया। इल्तुतमिश ने इसमें सात मेहराबें बनवाई जो मुस्लिम कला का प्रतीक होते हुए भी, हिन्दू निर्माण पद्धति का परिचय देती है। इन दोनों मजिस्दो में से पहली मन्दिर के स्थान पर और दूसरी संस्कृत विद्यालय के स्थान पर निर्मित करायी गयी थी अत. इसमें हिन्दू

1.परिखाच्छलतोऽकीर्त्या स्वपरापजातया।
परितोवलितं राजा स्वनामांकपुरं व्यधात्।।
जोनराजकृत राजतरंगिणी (215)

व मुस्लिम कला का सामजस्य दिखायी देता है। 'कुतुबमीनार' की मूल योजना इस्लामी है। आरम्भ में इसका प्रयोग 'अजान' (नमाज के लिए बुलाना) के लिए किया जाता था परन्तु बाद मे कीर्ति स्तम्भ के रूप में माना गया। कुतुबद्दीन द्वारा इसका निर्माण (1197) मे आरम्भ मे आरम्भ किया गया जो इल्तुतमिश के द्वारा (1232) में पूर्ण हुआ।

इल्तुतमिश ने 225 फीट ऊंची चार मंजिला बनवाया फीरोज तुगलक के समय में बिजली गिर जाने से इसकी चौथी मजिल नष्ट हो गयी तब उसने इस पर दो छोटी मंजिले बनवा दी जिससे यह पांच मजिली हो गयी 234 फीट ऊंची इस मीनार की ऊंचाई भव्य है इस युग की सबसे महत्वपूर्ण अंलकृत इमारतो में लाल बलुआ पत्थरो से निर्मित' 'इल्तुतमिश का मकबरा' है इसके अतिरिक्त इल्तुतमिश ने 'होज–ए–शमसी', 'शमसी ईदगाह' बदांयू की 'जामा मजिसद' और नागौर (आधुनिक जोधपुर) का 'अतरकीन' का दरवाजा बनवाया। बलवन ने अपना स्वयं का मकबरा 'लाल महल' बनवाया जो इस्लामी कला का श्रेष्ठ नूमना है।

अलाउद्दीन खलजी

एक महान निर्माता था और उसके पास आर्थिक साधन भी थे। उसके समय में वास्तुकला का तीव्र गति से विकास हुआ उसकी इमारते पूर्णतया इस्लामी विचार धारा के अनुकूल बनायी गयी थी और कला की दृष्टि से श्रेष्ठ है। यद्यपि उसका विचार कुतुबमीनार से ऊंची मीनार बनवाने का था और उसने इसका निर्माता कार्य प्रारम्भ भी कर दिया थ। 1311 में और पहली मंजिल के 75 फीट निर्माण के साथ 1316 में उसकी मृत्यु हो गयी और कार्य

अधूरा ही रह गया। इसके अतिरिक्त उसने 'सीरी का नगर बसाया', उसने 'हजार स्तम्भो वाला महल' निजामुद्दीन औलिया की दरगाहमे 'जमैपत खाना मजिस्द' और कुतुब मीनार के निकट 'अलाई दरवाजा' बनवाया जो इस्लामी कला के सुन्दरतम नमूने है। मार्शल ने लिखा है कि "अलाई दरवाजा इस्लामी स्थापात्य कला के खजाने का सबसे सुन्दर हीरा है"। इसी शैली के आधार पर 'जैनुल आबदीन' जो कि मध्य युग में काश्मीर का शासक था ने कई सुन्दर शहरों का निर्माण कराया। [1]

तुगलक शासकों की इमारतें इतनी भव्य न बन सकीं, सम्भवत. इसके पीछे उनकी आर्थिक कठिनाई थी। इस काल की सर्वोतम इमारत तुगलका बाद में स्थित गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा और उसका महल है। उसके महल के बारे में प्रसिद्ध है कि वह सूर्य की रोशनी में इतना चमकता था कि कोई भी उसके टकटकी लगाकर नहीं देख सकता था। परन्तु दुर्बल होने के कारण से शीघ्र ही नष्ट हो गयी। मोहम्मद तुगलक ने 'जहांपनाह' नामक नगर दिल्ली के निकट बसाया, तुगलकाबाद के निकट 'आदिलाबाद का किला' बनवाया। इसके अतिरिक्त अन्य इमारते बनवाई जिनमें 'सथपलाह बांध' और 'बिजायी मण्डल' नामक दो इमारतों के अवशेष प्राप्त होते हैं। फिरोज तुगलक ने बहुत निर्माण कराया उसमें 'फिरोज शाह कोटला' का नगर और 'किला' दिल्ली में 'हौज–खास' निकट स्वयं का मकबरा बनवाया। उसके पुत्र खाने जहां जनाशाह ने 'खानेजहां तिलगानी का मकबरा'। उसके निकट काली

---

1. क नगराधिकृतः काचडामरो दुस्तरेपथि।
   क्रोशमात्र व्यधातसेतुं नगरान्तः शिलामयम्।। जोनराज कृत राजतरंगिणी (887)

   ख. हिमाचलशिखादर्पच्छेदिप्रासादमेदुरम्।
   क्रमराज्ये स्फुरद्राज्यः सुरत्राणपुरं व्यधात्।। वही (947)

मस्जिद, जहापनाह मे 'खिरकी मस्जिद' बनवायी। नसीरूद्दीन मोहम्मद तुगलक के समय मे बनी हुई एक भव्य इमारत 'कबीरुद्दीन औलिया' की कब्र पर बना हुआ मकबरा 'लाल गुम्बद' भी है। सैयद और लोदी शाह शासकों के समय मे बनी हुई मुख्य इमारतों मे से 'मुबारक शाह सैयद', मुहम्मद शाह सैयद और सुल्तान सिकन्दर लोदी के मकबरे तथा सिकन्दर लोदी के प्रधानमंत्री द्वारा बनवायी गयी दिल्ली की 'मोठ मस्जिद' है।

उपर्युक्त इमारतो मे से अधिकांश इमारते मुख्यतः नगर, किले, महल नष्ट हो गये हैं परन्तु मकबरे, मस्जिदे व मीनारे अब भी है। ये कला अद्वितीय तो नही परन्तु सल्तनत काल के पर्याप्त अच्छे नमूने माने जा सकते हैं। कला की दृष्टि से इनमें कुतुबमीनार और अलाई दरवाजा का प्रमुख स्थान है। इनके अतिरिक्त काश्मीर की स्थापत्य कला भी मध्य युग के वस्तु कला का बेजोड नमूना है, जिसका वर्णन जोनराज ने राजतरंगिणी में किया है। वहां के शासको मे रिंचन व जैनुल आबदीन ने अनेक नये नगरो ,किलों, मन्दिरों, मठों, नहरों, पुलों धर्मशालाओ आदि का निर्माण कराया। जो हिन्दू व सल्तनत कालीन स्थापत्य कला के समन्वय का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हिन्दू राजाओं के पश्चात् विदेशी शासक रिंचन ने अपने नाम पर 'रिंचनपुरनगर' आबाद किया। मुस्लिम सुल्तानों में शहाबुद्दीन के बाद जैनुल आब दीन ने जैनपुरी, सुरत्राणपुर, सफलानगर, जैन नगरी, जैन गिरी, जैनसेतु आदि का निर्माण कराया। [1]

स्थानीय स्थापत्य कला या प्रान्तीय कला

विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न मुसलमान शासकों ने भी महलों,

1 जोनराजकृत राजतरंगिणी – 215, 864, 867, 872, 887–888, 947

किलो मस्जिदो और मकबरो का निर्माण कराया। मूल आधार पर उनकी इमारतें भी दिल्ली अथवा शाही स्थापात्य कला की भाति थी, परन्तु क्योंकि उनके साधन सीमित थे अतः वे दिल्ली सुल्तानो की समता में इमारते नहीं बनवा सके, इसके अतिरिक्त उनकी स्थानीय परिस्थितियों ने भी इमारतो को भिन्न स्वरूप प्रदान किया।

मुल्तान—मुल्तान मे बनवाई गई इमारतों में 'शाह यूसुफ—उल—गर्दिजी' बहौल—हक—शम्सुद्दीन और 'रूक्बे—आलम' के मकबरे हैं। इनमें 'रक्बे आलम' का मकबरा सबसे शानदार है।

बंगाल— बगाल में बनी इमारतें बहुत श्रेष्ठ नहीं बन सकीं उनमें अधिकांशतः ईटों का प्रयोग किया गया था। इनमें सुल्तान सिकन्दरशाह द्वारा बनवायी गयी, 'अदीना मस्जिद' गौड का 'दरसवारी का मकबरा', पांडुवा का 'एकलाखी मकबरा', गौड की 'लोटन मस्जिद', 'सोना मस्जिद', देवी कोट का 'रूक्नखां का मकबरा', खुलना जिले की 'सात गुम्बद मजिस्द' नुसरतशाह का बनवाया गौड का ' कदम रसूल का मकबरा', गौड का 'दाखिला दरवाजा' और पांडुआ में बना जलालुद्दीन मोहम्मद का मकबरा मुख्य है। खम्भों पर नुकीली मेहराबों का प्रयोग, हिन्दू, प्रतीकों का प्रयोग और हिन्दू चक्र रेखाओं का इस्लामी स्वरूप प्रदान करना बंगाल की स्थापत्य कला की मुख्य विशेषताएँ रहीं।

जौनपुर— शर्की शासकों ने स्थापत्य कला को बहुत प्रोत्साहन दिया। उनकी कला में हिन्दू तथा इस्लामी शैलियों का अच्छा समन्वय है।

चौकोर स्तम्भ, छोटी दहलीजे और मीनारो का अभाव इस कला की मुख्य विशेषता रही। इनमें 'इब्राहीम नाइब बारबक का महल' और 'किला' मुख्य है। इसके अतिरिक्त इब्राहीम शाही शर्की ने 'अटाला मजिस्द' को पूर्ण किया, उसी ने 'झाझारी मस्जिद' को बनवाया, हुसैन शाह ने 'जामी मस्जिद' और 'लाल दरवाजा मस्जिद' बनवायी।

मालवा– यहा बनी हुई इमारतों में 'कमान मौला मस्जिद', 'दिलावर खां मस्जिद' और मांडू का 'मलिक मुगीस का मकबरा' है। यहां की श्रेष्ठ रचना 'मांडू का किला' और उसके अन्दर बनी हुई विभिन्न इमारते है। 'जामा मस्जिद', 'हिण्डोला महल', 'अशर्फी महल' सात मंजिल का महमूद खलजी द्वारा बनवाया गया 'विजय स्तम्भ' 'सुल्तान हुसग शाह का मकबरा', 'जहाज महल', बाज बहादुर तथा रानी रूपमति के महल' मालवा की श्रेष्ठ इमारते हैं। ये अन्दर से सुन्दर ढंग से बनी हुई है। इसी कारण 'मांडू के किले' को सुरक्षित नगरो का सुन्दर नगर माना गया।

गुजरात– गुजरात में हिन्दू तथा मुस्लिम कला का सबसे सुन्दर समन्वय हुआ और वहां बहुत सुन्दर भवनो का निर्माण हुआ। डा. सरस्वती ने लिखा है, गुजरात की स्थापत्य कला की मुख्य विशेषता का कारण यह था कि वह अत्यन्त श्रेष्ठ स्थानीय कला और उससे भिन्न इस्लाम के संरक्षण का परिणाम थी। काम्बे की 'जामा मस्जिद' उसी मे बना 'अहमद शाह का मकबरा', 'हैबत खां' और 'सैयद आजम के मकबरे', तीन दरवाजा, 'रानी का हजुरा', 'दरिया खां और 'अलिफ खां' के मकबरे' प्रमुख है। इसके अतिरिक्त

महमूद बेगडा ने तीन नवीन नगर बसाये और चम्पानेर के नगर मे अनेक सुन्दर इमारते बनवायी। महमूद बेगडा के समय मे स्थापत्य कला मे कुछ नवीन तथ्य शामिल किये गये।

कश्मीर–कश्मीर मे हिन्दू और मुसलमान स्थापत्य कला का समन्वय देखने को मिलता है। 'मदनी का मकबरा' श्री नगर की जामा मस्जिद और 'शाह हमदान थी मस्जिद' इस समय की मुख्य इमारते हैं।

बहमनी– बहमनी अथवा उसके खण्डो से बने हुए मुसलमानी इमारतें बनवायी जिनमें हिन्दू और मुसलिम स्थापत्य कला का अच्छा मिश्रण है। इनमें 'गुलबर्गा' और बीदर की मस्जिदे, ''मोहम्मद आदिल शाह का मकबरा'' जो 'गोल गुम्बद' के नाम से विख्यात है। दौलताबाद की चार मीनार और बीदर का 'महमूद गंवा का विद्यालय' प्रमुख माने गये।

हिन्दू स्थापत्य कला

हिन्दू स्थापत्य कला के नमूने की इमारतें हमें मुख्यतः तथा राजस्थान व काश्मीर में प्राप्त होती हैं हिन्दू अपनी कला को मन्दिरों, महलों के रूप मे परिलक्षित कराते हैं। इसके अतिरिक्त विजय नगर में विभिन्न इमारतों और महलों का निर्माण हुआ था। हिन्दुओं ने निर्माण शैली में तो मुसलमानो से कुछ सीखा परन्तु कला की दृष्टि से उन्होंने अपनी कला को मुस्लिम कला के प्रभाव से मुक्त रखा, जिसके कारण उनकी इमारतें मुस्लिम शासकों की इमारतों से भिन्न रहीं। मेवाड के राजा कुम्भा ने अनेक किले, महल और मन्दिर बनवाये थे। उनमे से प्रमुख 'कुम्भलगढ का किला' और

1. आ प्रद्युम्नगिरिप्रान्तादमरेश पुरावधि।
मठाग्रहारहट्टाद्या स जैननगरीं व्यधात्।। जोनराजकृत राजतरंगिणी (869)

'चित्तौड का कीर्ति अथवा जय स्तम्भ' है। जय स्तम्भ का कुछ भाग लाल पत्थर से और कुछ भाग सफेद सगमरमर से बना हुआ है। चित्तौड में ही एक स्तम्भ 'जैन स्तम्भ' भी है। इसमें नक्काशी का बहुत सुन्दर काम है। राजस्थान के अन्य भागों मे किले और महल बनवाये गये। दक्षिण में 'गोपुरम्' बनाने की प्राचीन कला को विजय नगर सम्राटों ने और अधिक विस्तृत किया तथा मन्दिरों के 'गोपुरम' (मन्दिरो के प्रवेश द्वार के ऊपर बनवाया गया गुम्बद) पहले की तुलना में अधिक बडे बनाये गये। सम्राट 'कृष्णदेव राय' द्वारा बनवाया गया 'विट्ठल स्वामी का मन्दिर' दक्षिण भारत की इमारतो में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। विभिन्न मन्दिरों पर विभिन्न राजाओं ने नवीन मण्डप (छत्र) भी बनाये जेसे 'वेलूर के किले' के 'पार्वती मन्दिर' पर, कांचीपुरम् के 'वरदराज स्वामी' और 'एकाम्बरनाथ' के मन्दिर पर और 'त्रिचनापल्ली' के 'जम्बुकेश्वर' के मन्दिर पर।

काश्मीर के [illegible] ने भी अनेक मठों व जैन मन्दिरों का निर्माण करवाया। तत्कालीन शासक जैनुल आबदीन ने प्रद्युम्नगिरि प्रान्त से लेकर अमरेशपुर तक जैन नगरी को मठ, अग्रहार, हट्ट से सम्बद्ध कर दिया। [1] इसके अतिरिक्त शिर्यमभट्ट ने जगह–जगह पर मठों को बनवाया और राजा के अन्य सचिवों ने बहुत सी धर्मशालाएं बनवायी। *

इस युग में मुसलमान शासको द्वारा बनवायी गयी इमारतों की विशेषता गुम्बद, मीनारे, मेहराबें और तहखाने थे। अधिकांश इमारते मकबरे, महल, मस्जिदे तथा किले थे। हिन्दू इमारतों की विशेषता स्तम्भ, नुकीली

1. विषये–विषये चक्रे शिर्यभट्टो मठान् पृथून्।
   अन्येपि सचिवा राज्ञो धर्मशाला बहूर्व्यधु.।।
   जोनराज कृत राजतरगिणी (889)

मेहराबे और उनकी अलंकारिकता थी। हिन्दुओ ने अधिकांश मन्दिर, किले, गोपुरम और मण्डप, मठ, धर्मशालाये आदि बनवाये। भारत में प्रवेश करके मुस्लिम कला बहुत कुछ परिवर्तित हो गयी और बिना प्रयत्न किये ही एक ऐसी स्थापत्य कला का निर्माण हुआ जो भारतीय इस्लामी कला कहलायी और जिसने भविष्य की स्थापत्य कला के निर्माण मे सहयोग दिया।

संगीत कला

इस्लाम धर्म मे सगीत कला वर्जित है। इस कारण दिल्ली सल्तनत के कुछ प्रारम्भिक सुल्तानो ने इस कला की ओर से कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु बाद में बलवन, जलालुद्दीन खिलजी, 'अलाउद्दीन खिलजी' और 'मोहम्मद तुगलक' जैसे सुल्तानों ने इसे सरक्षण प्रदान किया। 'बलबन' के सम्बन्ध में 'एम0 डब्ल्यू0 मिर्जा' लिखते हैं, "बलबन संगीत कला का एक बड़ा संरक्षक था। उसने भारतीय संगीत कला की बहुत प्रशंसा की और उसे अन्य देशों की संगीत कला से श्रेष्ठ स्वीकारा।" बलबन का पुत्र 'बुगराखां' भी संगीत कला का प्रेमी था। उसने गायकों, नर्तकों और नाटककारों की एक संस्था का निर्माण किया था। अलाउद्दीन खिलजी ने इस कला को संरक्षण प्रदान किया। उसने दरबार में संगीतज्ञों के एक समूह को स्थान दिया था। तत्कालीन दक्षिण भारत के महान संगीतकार गोपाल नायक को अपने दरबार मे बुलाया था। उसके दरबार में अपने समय के महान कवि, लेखक और गायक अमीर खुसरो को संरक्षण प्राप्त था। खुसरो ने भारतीय व ईरानी रागो का मिश्रण कर कुछ नवीन शैली जैसे 'इमान जिल्फ', 'साजगरी' आदि को

जन्म दिया। गियासुउद्दीन तुगलक के समय मे सगीत पर निषेध था उसके बाद उसके पुत्र मोहम्मद तुगलक ने सगीत मे रूचि ली और अपने राज्य में संगीत गोष्ठियो का आयोजन किया। जिसमें हिन्दू और मुसलमान सभी सगीतज्ञ सम्मिलित हुए। फिरोज तुगलक भी संगीत कला मे रूचि रखता था। उसके बारे मे प्रसिद्व है कि जब वह सिंहासनारूढ हुआ तो इक्कीस दिनों तक संगीत गोष्ठी का आयोजन किया।

प्रान्तीय संगीत

इस युग में विभिन्न प्रान्तीय स्वतत्र शासको ने भी संगीत कला को संरक्षण प्रदान किया। जौनपुर के प्रायः सभी शासको ने संगीत कला पर विशेष ध्यान दिया। उनके काल मे 1375 मे एक मुसलमान विद्वान ने एक अच्छे ग्रन्थ "गुनयाल–उल–मुनयास" संगीत कला की रचना की। वहां का शासक हुसैन शाह शरकी स्वयं अच्छा संगीतज्ञ था। उसने एक नवीन राग 'ख्याल' को भारतीय संगीत कला में सम्मिलित किया। इसके अतिरिक्त उसके काल में विद्वानों ने सगीत शिरोमणि नामक एक श्रेष्ठ 'संगीत ग्रन्थ' की रचना की। गुजरात व मालवा के शासको ने सगीत को प्रश्रय दिया। मालवा का शासक बाजबहादुर व उसकी पत्नी रानी रूपमती इस कला के अच्छे ज्ञाता थे। कश्मीर का सुल्तान जेनुल–आब–दीन भी संगीत कला का अच्छा ज्ञाता था, उसने भी अपने दरबार में संगीतज्ञों को प्रश्रय दिया उसके राज्य में बुद्धिदत्त नामक संगीतज्ञ ने प्रसिद्व ग्रन्थ लिखा। इसके अतिरिक्त काश्मीर में नृत्य कला का भी उल्लेख मिलता है। [1] बिहार में चिन्तामणि एक महान

1. द्रष्टव्य –जोनराज कृत राजतरगिणी (126)

संगीतज्ञ हुए। जिन्हे 'बिहारी बुलबुल' की उपाधि दी गयी। तिरहुत में 'विद्यापति' नामक एक महान संगीतज्ञ हुए उनका 'कजरी' नामक काव्य संगीत काफी लोकप्रिय हुआ। ग्वालियर का राजा मानसिह कला मर्मज्ञ था उसके काल में संगीत विद्वानों ने 'धुप्रद राग' का प्रारम्भ किया जो उत्साहवर्धक राग है। बैजू बावरा को भी उसका सरक्षण प्राप्त हुआ।

दक्षिण भारत के विभिन्न शासकों ने संगीत कला को संरक्षण प्रदान किया, इनमें प्रमुख बहमनी राज्य के 'फिरोज शाह' और 'महमूद शाह' हैं, बीजापुर के आदिलशाह और विजय नगर के राजाओं ने भी इस कला को अपना प्रश्रय दिया।

भक्ति मार्ग के प्रचारकों ने भी संगीत कला की उन्नति में अपना सहयोग दिया बंगाल में चैतन्य महाप्रभु, चण्डीदास व सूफी सन्तों ने समूह गान को लोकप्रिय बनाया।

सारंगदेव ने महान ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' की रचना की। उस समय संगीत की बारह शैलियां 'मैदी', 'टोडी', 'कर्नट', 'केदार', 'यमन', 'सारंग', 'मेध', 'धनसारी', 'पूर्वी', 'तुखारी' और 'दियांक' प्रचलित थीं। इस प्रकार हम पाते हैं कि दिल्ली सल्तनत में संगीत कला की उन्नति होती रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नृत्य व संगीत दोनों कला को इस काल में भरपूर संरक्षण मिला। एक विद्वान ने कहा है कि "इस काल (सल्तनत) में 'धर्म निरपेक्ष' और 'आध्यात्मिक' दोनों ही प्रकार का संगीत श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सका था।"

अष्टम अध्याय
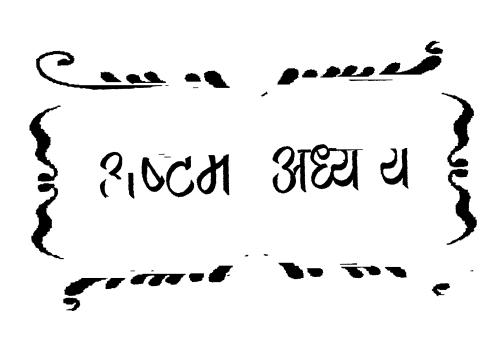
अष्ट- -अध्या

उपसंहा

इस प्रकार मध्य युग के इतिहास में मुहम्मद गोरी के आक्रमण के अनन्तर मुस्लिम शासन भारत के सम्पूर्ण भागों पर न होकर कुछ सीमित प्रदेशो में ही रहा। अधिकांश भाग मुस्लिम शासन से स्वतत्र ही बना रहा। पूरे भारत में मुस्लिम सत्ता स्थापित करने का श्रेय जिस शासक को जाता है वह अलाउद्दीन खिलजी। उसकी वास्तविक प्रभु सत्ता विन्ध्य के आगे न बढ़ सकी। खिल्जी वश के उत्थान पतन मे मात्र बीस वर्ष लगे। खिल्जी वंश के पश्चात् आने वाले तुगलक वंश ने अपनी सत्ता सुदृढ की। थोडे शासन काल के बाद तुगलक वंश उच्छिन्न हो गया। भारत अब तुगलक और मुगलो के आगमन मध्य लगभग दो शताब्दियो तक छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त रहा।

बीस और दस वर्षों तक शासन करने वाले खिल्जी वंश तुगलक वंशों की शासनावधि के समाप्त हो जाने पर भारत में तुर्की शासन जाता रहा। इन दोनों के अवशेषों से दकन के बहमनी, पश्चिम मे गुजरात और पूर्व में बंगाल में मुस्लिम सत्ताओं का उदय हुआ। विजय नगर मेवाड, उडीसा और पूर्वी तट पर हिन्दुओं का शासन था। मालवा और जौनपुर के मुस्लिमों शासकों ने भी कभी–कभी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा की। इन सभी राज्यों मे ॰रस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष चलता रहा था। दिल्ली सल्तन्त का अल्पकालिक पुनरूत्थान लोदियो के शासनकाल मे हुआ।

मुस्लिमों के आगमन और समाज में धीरे–धीरे स्थापित होने पर

भी अधिसंख्यक हिन्दू समाज अपनी पुरातन परम्पराओं के बनाये रखने में सफल रहा। पहले से चली आ रही चार जातिया एव युग मे भी बनी रही। मिथिला, वाराणसी, बंगाल आदि के रचनाकारो ने विविध स्मृतिपरकग्रन्थ लिखे। अभिलेखों का इस युग में अभाव है। इससे स्मृतियों मे प्रतिपादित नियमो का कितना अनुपालन हुआ। इसका प्रमाणिक ज्ञान नहीं हो पाता। ऊपर बताये गये क्षेत्रीय स्मृति सम्प्रदायों के उदय से इस समस्या का समाधान काफी हद तक हो जाता है। इन आचार्यों ने सामाजिक मूल्यों का मानदण्ड अपने-अपने ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण तरीके से निर्धारित किया। चण्डेश्वर ने गृहस्थ-रत्नाकरए वाचस्पति मिश्र ने विवाद-चिन्तामणि, मिसारू मिश्र ने विवादचन्द्र, [illegible] ने मदन रत्न प्रदीप, मदन परिजात और दीपकलिका आदि प्रमुख ग्रन्थों की रचना की। इनमें चारो वर्गोंके व्यक्तियों द्वारा किये गये जाने वाले दैनिक कर्मो का उल्लेख है।

परिवार, जो समाज का एक महत्त्वपूर्ण घटक है, इन ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है। परिवार के सदस्यो की स्थिति उनके स्वरूप आदि का वर्णन है। विवाह नामक संस्कार पर ग्रन्थकारों ने अपने विचार खुलकर रखे हैं। तीन वर्णों मे विवाह सम्बन्ध अपनी-अपनी जातियों में ही किये जाते थे। साथ ही ऊंची जाति वाले अपने से अवर जाति से कन्या ले सकते थे। अनुलोम विवाह स्वीकृत थे और होते भी थे। विजातीय विवाह कहीं-कहीं हुए भी किन्तु अधिकतर इनसे बचने का प्रयास किया जाता था। समाज में विजातीय विवाह को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सती-प्रथा पर कुछ सल्तानों ने रोक लगाने का प्रयास भी किया। इसके अन्तर्गत सती होने के पूर्व सुल्तान की

अनुमति लेनी पडती थी।

सामान्यतया महिलाओ की दशा बहुत अच्छी नही थी। शिक्षा की व्यवस्था का प्रचार प्रसार जन सामान्य तक नही पहुच सका था। राजपरिवारीय और उच्चवर्गीय स्त्रियॉ ही शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। सामान्य स्त्रियो को शिक्षा से बंचित रखने के साथ ही साथ उनका प्रयोग सामग्री के रूप में में करने में भी शासकवर्ग नही हिचकते थे। ये बादशाह पराजितो की स्त्रियों को अपने मित्रो तथा प्रियजनो को उपहार रूप में दे देते थे। जहां उनका शारीरिक और मानसिक शोषण होता था। विजयी द्वारा पराजितों को दास रूप में रखा जाने लगा जिनके साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जाता था। हिन्दू और मुसलमान साथ साथ दीर्घ काल तक रहे किन्तु एक केन्द्र के दो वृत्तों की परिधिवत् कभी मिल नहीं सके। मुस्लिम शासको ने हिन्दुओ पर इतने अत्याचार किये कि हिन्दुओं के मन में उनके प्रति घृणा और द्वेष ही उभरा। जजिया, जबरन, धर्मपरिवर्तन, सामाजिक अपमान, व्यक्तिगत जलालत आदि अत्याचारसे मुस्लिमों ने हिन्दुओ को अपना सहज बैरी बना लिया।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में अर्थ व्यवस्था के मेरूदण्ड ग्राम ही बने रहे। पूर्वकाल से चली आ रही स्वशासन प्रणाली के सोपान ग्राम–पंचायतें, न्याय पंचायतें आदि शनैः–शनैः महत्त्वहीन होकर रह गयी थी। कहीं–कहीं इनका अस्तित्व भी नही रहा। शक्ति का केन्द्र बादशाह ही होता था। अतः केन्द्रीय शासन और जमींदारी का प्रभाव बढ रहा था। 1333–1346 के बीच आनेवाले मूरिश यात्री इब्नबतूता ने मालवा, गुजरात, दकन, बंगाल आदि के बाजारों को अत्यन्त समृद्ध बताया है। समृद्धि गांवों की तुलना में शहरों में

अधिक थी। भूमि का उपजाऊपन पहले के ही तरह बना हुआ था। धान, ज्वार, बाजरा, गन्ना,मटर, गेहू, जौ आदि फसले उगाई जाती थी। उद्योग और व्यापार भी गतिशील बना रहा। गुजरात मे वस्त्र व्यापार की प्रगति चरम सीमा पर थी। प्रमुख औद्योगिक नगर कैम्बी मे श्वेत सूत्री वस्त्र बनते थे। वेरावल समुद्र तट से गुजरात मे निर्मित वस्त्रो का विपणन होता था। वेरावल से अरब सागर और फिर लाल सागर होते हुए ये वस्त्र पश्चिम बंगाल के बाजारों में बिकते थे। वस्त्रो के अतिरिक्त सोना, चांदी, स्वर्णाभूषण, मोतियो के आभूषण, नगीने आदि के अतिरिक्त मसाले, मिर्च, अदरक, दालचीनी, इलायची, हर्रे, इत्यादि मुस्लिम देशों को भेजे जाते थे। इससे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्वि हो रही थी।

शासनतंत्र में भी इस्लामिक प्रभाव बढा। मुस्लिमों द्वारा शासित प्रान्तों में खलीफा प्रधान होता था जो कुरान के निर्देशों के अनुसार शासन चलाता था। न्यायालय व्यवस्था के लिए काजी नियुक्त होते थे। किन्तु सारी शक्ति सुल्तान में केन्द्रित थी वह सबसे बडा शक्ति केन्द्र होने के साथ ही सर्वोच्च न्यायाधीश भी होता था। इनकी दण्ड व्यवस्था कठोर थी। सेना में प्रमुख पदों पर मुस्लिमों को ही नियुक्त किया जाता था। सेनापति सुल्तान के आदेशों का पालनकर्ता होता था।

धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक आचार्यो ने अपने अपने सम्प्रदाय के सिद्वान्तो का प्रचार किया। हिन्दू धर्म में शैव, वैष्णव और भागवत सम्प्रदाय प्रमुख थे। अपने धर्म के प्रचारार्थ इन अचार्यो ने मठ, सम्प्रदायों और मन्दिरों का निर्माण करवाया। दार्शनिक चिन्तकों ने भी अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं

का प्रसार करने के लिए अनेक ग्रन्थो की रचना की। महत्त्व, वल्लभ, रामानुज, चैतन्य आदि भक्तो और दार्शनिको के साथ ही साथ रामानन्द, चैतन्य आदि भक्तो और दार्शानिको के साथ ही साथ रामानन्द, कबीर, नानक आदि ने समाज से ऊंच–नीच, छुआ–छूत सती आदि दोषो को दूर करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। इनके प्रयासो से समाज मे जनजागरण हुआ और दोष धीरे–धीरे विलुप्त होने लगे। मुस्लिम धर्म के लोगों के अपने धर्म के प्रचार में जबरन मुसलमान बनाना जारी रखा। इस्लाम राजधर्म बना रहा। अन्य धर्मानुयायियों को सहन करना मुस्लिमों ने सीखा ही नहीं। इस युग में हिन्दू और मुस्लिम शिक्षा–पद्वतियों द्वारा शिक्षा की जाती थी। शिक्षा के प्रमुख केन्द्र नवद्वीप, मिथिला, बनारस, मथुरा, वृंदावन, प्रयाग आयोध्या, श्रीनगर और मुल्तान।

मुस्लिम शिक्षापद्धति के प्रमुख उच्च शिक्षा केन्द्र थे आगरा, दिल्ली, जौनपुर। जौनपुर को भारत का सिराज कहा जाता था। उस समय न्याय, शास्त्र, धर्मशास्त्र, पैगम्बरों का परिचय व्याकरण, शब्द–विज्ञान, साहित्य आर्युविज्ञान, गणित, खगोल शास्त्रादि का अध्ययन–अध्यापन होता था। सस्कृत–साहित्य विविध विधाओं मे लेखन हुए। श्रीवर की 'राजतरंगिणी' प्रज्यभट्ट की 'राज्यावलिपताका', गड्गा देवी का 'वी[illegible]' सालुवाभ्दुय आदि ग्रन्थों की रचना हुई। इसके अतिरिक्त अरबी, फारसी, मराठी, गुजराती, हिन्दी, बंगाली, कन्नड़, तेलगू, मलयालम आदि भाषाओं मे भी बृहद साहित्यिक कृतियां रची गयी।

चित्रकला और स्थापत्य कला के क्षेत्र में कुछ उत्कृष्ट कार्य हुए।

कुतुबमीनार, ढाई दिन का झोपडा, जामा मस्जिद, अलाई, दरवाजा आदि स्थापत्य कला के बेजोड नमूने है। इस प्रकार यह समाज विविध परिवर्तनो से गुजरता हुआ इस समय से लेकर मुगलों के आगमन के पूर्व तक ऐसे ही चलता रहा।

अधीत–ग्रन्थ–विवरणिका

संस्कृत

ग्रन्थकार	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशन
सदानन्द योगीन्द्र	वेदान्तसार	सुदर्शन प्रकाशन इलाहाबाद
अद्वैतानन्द	ब्रह्मविद्याभरण	मद्रास 1894
अगस्त्य(विद्यानाथ)	प्रतापरूद्रयशोभूषण	BSS No. LXV
अगस्त्य(विद्यानाथ) सेन	बालभारत	श्रीरंगम् 1942
आनन्द भट्ट	भारतचम्पू	मुम्बई 1903,1916
बल्लालसेन	भोजप्रबन्ध	एल जी ग्रे.
भास्कर	उन्मत्तराघव	मुम्बई 1889
भट्टोजिदीक्षित	सिद्धान्तकौमुदी	वाराणसी
भट्टोजिदीक्षित	शब्दकौस्तुभ	[illegible] 1898,1917
चण्डेश्वर	स्मृतिरत्नाकर	बी 1925
चण्डेश्वर	कृत्यरत्नाकर	बी. प्रथम 1925
चण्डेश्वर	विवादरत्नाकर	कलकत्ता 1899
चण्डेश्वर	गृहस्थ[illegible]	बी. 1928
चण्डेश्वर	राजनीतिरत्नाकर	पटना 1924
चरित–[illegible]न्दरगणि	महिपालचरितम्	जामनगर1909
चरित–[illegible]न्दरगणि	शिलादूत	बनारस 1913
गणेश	ग्रहलाधव	बम्बई 1900
गंगादास	छन्दोमंजरी	बी [illegible]सएसजंब्ल्यू 1864चच 20–9–42
गंगादेवी	मधुराविजयम्	अन्नामलाई 1957

गंगाधर	गंगादासप्रतापविलासम्	एगलिंग इण्डिया आफिस केट लाग vii 4194
गोपीनाथ चक्रवर्ती	कौतुकसर्वस्व	कलकत्ता 1828
गोविन्दानन्द	दानकौमुदी	**B.I.** 1903
कविकंकणाचार्य	दुर्गोत्सवविवेक	कलकत्ता
कविकंकणाचार्य	प्रायश्चित्तविवेक	कलकत्ता 1893
कविकंकणाचार्य	श्राद्धकौमुदी	बी आई 1902
गुणरत्नम् सूरी	क्रियारत्नसमुच्चय	बनारस 1908
जगद्धारा	स्तुतिकुसुमाञ्जलि	बम्बई 1891
जगदीश्वर	हास्यार्णव	लाहौर 1921
जीवगोस्वामी	गोपालचम्पू	कलकत्ता 1908
कल्याणमल्ल	अनगरंग	कलकत्ता 1944
ज्योतिरीश्वर कविशेखर	धूर्तसमागम	बान 1838
कंचनाचार्य	धनजयविजयव्यायोग	बम्बई 1885
कपिल	सांख्यप्रवचनसूत्र	एडिनवर्ग 1921
कविकर्णपूरपरमानन्ददाससेन	आनन्दवृन्दावनचम्पू	हुगली 1918
केदार भट्ट	वृत्तरत्नाकर	कलकत्ता 1915
कीर्तिराज	नेमिनाथमहाकाव्य	भावनगर 1914
क्षेमेन्द्र	सिंहासनद्वात्रिंशिका	कैम्ब्रिज 1926
लौगाक्षि भास्कर	तर्ककौमुदी	मुम्बई 1928
लोलिम्बराज	हरिविलासकाव्यमाला	मुम्बई 1895
भरतपाल	मदनपरिजात	बी–प्रथम 1893
माधवाचार्य	पराशरमाधव	मद्रास 1868
माधवाचार्य	कालनिर्णय	बनारस 1909

माधवाचार्य	सर्वदर्शनसंग्रह	पूना 1906, 1924
माधवाचार्य	जैमिनीयन्यायमालाविस्तार	लन्दन 1878
माधवाचार्य	पंचदशी	श्रीरगम् 1912
मल्लिनाथ	तरला	मुम्बई 1903
मेरुतुंगाचार्य	प्रबंन्धचिन्तामणि	मुम्बई 1888
मिसारू मिश्रा	विवादचन्द्र	रामकृष्ण झा
नारायण	वृत्तिचन्द्रिका	बनारस 1927
नयचन्द्र	हम्मीरकाव्य	मुम्बई 1879
रघुनन्दन	दयातत्त्व	कलकत्ता 1904
रघुनन्दन	व्यवहारत्तत्व	कलकत्ता 1828
रघुनन्दन	स्मृतितत्त्व	जेएसएबी 1915
रामचन्द्र	रसिकरंजन	मुम्बई 1899
रूपगोस्वामी	विदग्धमाधव	मुम्बई 1903
रूपगोस्वामी	ललितमाधव	बहरामपुर 1902
रूपगोस्वामी	दानकेलिचन्द्रिका	बहरामपुर 1926
रूपगोस्वामी	उज्ज्वलनीलमणि	मुम्बई 1913
रूपगोस्वामी	पद्यावली	ढाका 1934
रूपगोस्वामी	स्त्वमाला	मुम्बई 1903
रूद्रधारा	श्राद्धविवेक और शुद्धविवेक	बनारस 1900
साल्व नरसिंह	रामाभ्युदय	मद्रास 1929
सर्वानन्द	जगदूचरितम्	इण्डियनस्टडीज
शिवादित्य	सप्तपदार्थी	मद्रास 1932
सोम चरित्रमणि	गुरुग्रन्थरत्नाकर	बनारस 1911
श्रीवर	कथाकौतुक	हेसलर 1893

शगपाणि	दीपकलिका	जेएएसबी 1915
ति [illegible]च्या	वरदाम्बिकापरिणय	लाहौर 1938
उद्दण्ड	मल्लिकामृत	कलकत्ता 1878
वा[illegible]मिश्र	विवादचिन्तामणि	बडौदा 1942
वामनभट्टबाण	वेमभूमपालचरितम्	श्रीरंगम 1910
वामनभट्टबाण	पार्वतीपरिणय	लोपिज 1913
वरदाचार्य	वेदान्तविलास	1902
वासुदेव	वासुदेवविजयम्	पूना 1923
वेकटनाथ अथवा	संकल्पसूर्योदय	श्रीरंगम 1917
वेदान्तदेशिक	तत्त्वयुक्ताकलाप	बनारस 1900
वेकटाध्वरित्त्व अथवा वेकटेश	श्रीनिवासविलासचम्पू	मुम्बई 1893
[illegible]	रूक्मिणीकल्याण	श्रीरंगम्
विद्यापति	पुरुष परीक्षा	मुम्बई 1882
विज्ञानाभिक्षु	सां[illegible]भाष्य	बनारस 1928
विष्णुदास	मनोदूत	कलकत्ता 1847
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	कलकत्ता 1946
विश्वनाथ	सौगन्धिकाहरण	मुम्बई 1902
विश्वनाथ	बृहद्धर्मपुराण	[illegible]
मदनपाल	मदनरत्नप्रदीप	बीकानेर 1948
"	नृसिह प्रसाद	बनारस 1934
"	श्राद्धसार	बनारस 1934
"	तीर्थसार	बनारस
"	सरस्वतीविलास (व्यवहारकाण्ड)	मैसूर 1927
राजनाथद्वितीय	सालुवाभ्युदय	

हिन्दी

लेखक	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशन
ए०ए०एस० रिजवी	आदितुर्ककालीन भारत	अलीगढ 1956
	खिलजीकालीनभारत	अलीगढ 1955
	तुगलककालीनभारत (प्रथम भाग)	अलीगढ 1956
	तुगलककालीनभारत (द्वितीय भाग)	अलीगढ़ 1956
आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव	भारत का इतिहास	आगरा 1992
युसुफ अली अब्दुल्ला	हिन्दुस्तानके मुशारतीहालात	इला० 1928
डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह	प्राचीन भारतीय सस्कृति के आधार	अक्षयवट प्रकाशन दिल्ली
हरिश्चन्द्र वर्मा	मध्य कालीन भारत का इतिहास खण्ड–1	दिल्ली 1996
चौपडापुरीदास	भारत का सामाजिक और सास्कृतिक इतिहास	मैकमिलन 1996

BIBLIOGRAPHY

ENGLISH BOOKS

Author	Title	Publication
Tuhfa-i-Akbar	'Abbas Khan Sarwani;	British Museum Or. 164
Tughluq-namah.	Amır Khusrav;	Aurangabad
Agnides, Nicholas P.	Muhammad Theories of Finance.	New York, 1916
Ahmad, M.B.	The Administration of Justice in Medieval India.	Alıgarh, 1941
Husain, Wahid	The Administration of Justice during the Muslim Rule in India	Calcutta, 1934
Qureshi, I.H.	The Administratıon of the Sultanate of Delhi. 2nd Ed	Lahore, 1921
Trıpathi, R.P.	Some Aspects Of Muslim Admınistration. Ist Ed.	Allahabad, 1956
Das Gupta, S.N. & De, S.K.	History of Sanskrit litrature.	Calcutta, 1947
De, S.K.	History of Sanskrit Poetics.	London, 1923,1925 IInd Ed. Calcutta 1960
Kane, P.V	History of Alankara Literatur History of Sanskrit Poetics	Bombay, 1923, 1951.
Kane, P.V.	History of Dharmasastra.	Poona, 1930-62
Barnett, L.D.	Hındu Gods and Heros.	London, 1923
Bhandrakar, R.G.	Vaishnavism and Mınor Religious Systems.	Strassbourg, India 1913Edittion, Poona 1938.
Cultural Heritage of India	------------------------------	Calcutta, 1956.

De, S.K.	Early History of the Vaishnava, faith and movement in Bengal	Calcutta, 1942
Farquhar, J.N.	Outline of the religious Literature of India.	Oxford, 1920
Kane, P.V.	History of Dharmasastra 5 Vol.	Poona, 1930
Konow, Sten & 1949	Religions of India,	Copenhagen,
Tuxen, Paul		
Westcott, G.H.	Kabir and the Kabir Panth, II Ed	Calcutta1953
Asharaf, K.M	Life and condition of the people of Hindustan.	A.D. 1200-1550
Husain, W.	Conception of Divinity in Islam and Upnishad	Calcutta, 1939.
Husain, Y.	Glimpses of Medieval Indian Culture,	1957.
Sen, Ksitimohan	Medieval Mysticism in India.	London, 1036
Thomas, F.W.	Mutual Influence of Muhammedans and Hindus in India	Cambridge, 1892
Titus, M.T.	Indian Islam	Madras, 1938
Wilson, H.H.	Religious Sects of the Hindus	
Nrisimhaprasada Prayaschittasara	The Princess of Wales Sarasvati Bhavan	Banaras, 1934
Do Do Sraddhasara	The Princess of Wales Sarasvati Bhavan	Banaras, 1934
Do Do Tirthasara.	The Princes of Wales Sarasvati Bhavan	Banaras,
Husain, Yusuf	Glimps of Medieval Indian Culture,	Bombay,1957
Evenfelds, V.	Socio- Religious role of Islam in the History of India	1939
Hussain Mahdi	The Hindus in medieval India,	
Lal, K.S.	Foob and drink in Medieval India,	
Brown, Percy	Indian Architecture (Islamic Period.)	Bombay,
Fergusson, J	History of Indian and Estern. Architecture	London, 1910
Fletcher, B.F.	A History of Architecture on the Comparative method.	London, 1950

Havell, E.B.	Indian Architecture: Its Psychology, Structure and History from the first Muhammadan Invasions to the present day	London, 1913
Zafar Hasan, M.	List of Muhammadan and Hindu Monuments in the Province of Delhi,	Calcutta, 1916-22
Saraswati, S K.	Muslim Architects in Bengal, Journal of the Indian Society of Oriental Art Calcutta, Vol X	
Prasad, Ishwari	History of Medival India, Ist Ed	Allahabad, 1925

ARTICLES

Askar, S H — Medicines and Hospitals in the Sultans of Delhi, JBRS, XLIII 1957, 7-22

Bannerjee, A C. — The influence of Islamic traditations on the Sultanate of Delhi. JIH, XVI, 151-168

Bannerjee, A C — A note on the provincial government and the Sultanate of Delhi IC, V, 255-60

Bannerjee, S.K. — Sovereignty in early Muslim India 1210-1236 A.D. IC, 9-22.

Basu, K.K — Muslim kingship in medieval India, its aetiology and application. PIHC, VI, 235-38.

Chaudhury. J.N. — The administration of the Delhi empire in the pre-Mugal period. IHQ. VI, 265-71; VII, 41-54

Day, U.N — The military organisation of the Sultanate of Delhi 1210 -1288). Journal of the U.P.

Gode, P.K. — Use of Guns and Gunpower in India from A.D. 1400 onwards. NIA, II, 169-176.

Habibullah, A.B.M. — Provincial Government under the Mameluke Sultans of Delhi. IHQ, XI, 252-62

Islam, R — Sources of revenue under Firuz Shah Tughluq, PIHC VI, 222-7.

Lal, K.S. — The Spirit of Muslim Government in India. *Annual Bulletin of the Nagpur University History Society, No 2 October, 1947*

Makhdhomee, A. — Mechanical artillery in Medieval India. JIH, XV, 189-195

Ray, N.B. — A peep into the Delhi court during the Reign of Sultan Firuz Shah PIHC, V, 313-17

Sahabudin, S. — Conduct of Strategy and tactics of war during the Muslim rule in India. IC, XX, 154, 291-345 XXI, 7, 123

Saksena, B.P. — 'Ala-ud-din's fiscal reforms. PIHC, III, 872-76

Sharma Sri Ram — Firuz Shah's fiscal reforms. Pihc. III 257-63.

Siddiqi, A.M. — The organisation of the central and Provincial Gov ernment under the Bahmanides, AIOC VIII, 463-81

Sinha, H.N	Foundationoflndo-Islamıc State. *Annual Buletın of Nagpur Unıversıty Hıstorıcal Socıety oct, 1946*
Halim, A	Muslim Kıngs of the 15th Century and Bhaktı Revıval, pihc, X, 305-310
Rao, S H.	Hındu relıgıous movement in Medieval Deccan JIH,XV, 103-113
Sen,S.N.	Hınduism and Muhammedan heretics durıng the Pathan perıod AIOC, III, 401-405
Shastery, M.A.	History of Sufism, AIOC, II, 583-99
Smith, M.	The Path of The Soul in Sufism, Muslim Review, vol no.-2
Wali, A.Maulvi	Hinduism according to Muslim Sufis, JASB, XI, (1923), 237-252
Abdur Razzak	Translatıon of Extracts relating toIndia With introductory notice
Ibn Batutah Rehla	Compleet translation in French (Voyagesd' Ibn Batoutha)1859
Mahalingam, T.V.	Administration and Social Life Madras, 1940 Under VIjayanagar
Prasad, Ishwari	History of Medieval India, 3rd Ed. Allahabad' 1950
Saletore, R.B.	Social and Political Life under the VIjayanagar Empire,
Habibullah, A.B.M.	Unidıscovered Source-Books of pre Mughal History PIHC, XI, 159-61.
Habibullah, A.B.M.	Revaluation of the Literary Sources of Pre-Mughal India, Is. XV, 207-16.
Sherwani, H.K.	Bahmani Coınage as a Sources of Deccan History, D.V. Potdar Commemoration Volume, 204-08